क्या क्यों कैसे

जिज्ञासा

मानव मुक्ति

क्या-क्यों-कैसे

लाल बहादुर वर्मा

संयोजन

विनोद शाही

आलोक श्रीवास्तव

लाल बहादुर वर्मा

क्या क्यों कैसे
जिज्ञासा

मानव मुक्ति कथा

लेखक

लाल बहादुर वर्मा

सांस्कृतिक मुहिम

प्रकाशन : सांस्कृतिक मुहिम

239 चन्द्रशेखर आज़ाद नगर,
(मेहदौरी कॉलोनी), तेलियरगंज,
इलाहाबाद – 211004 (उ. प्र.)
मोबाइल : 09454069645
email :muhimverma@gmail.com

शब्द संयोजन एवं डिजायनिंग

शशि, सौरभ कुशवाहा

मूल्य : पचास रुपया

कितने तरह की मुक्तियां?

1. मुक्ति का मतलब 5
2. दासता से मुक्ति 13
3. पितृसत्ता से मुक्ति 23
4. राजसत्ता से मुक्ति 27
5. पूंजीवाद से मुक्ति 31
6. गरीबी से मुक्ति 40
7. सांस्कृतिक गरीबी से मुक्ति 44
8. संकीर्णता, पिछड़ेपन और सांप्रदायिकता से मुक्ति 46
9. प्रदूषण से मुक्ति 53
10. संकीर्ण राष्ट्रवाद से मुक्ति 57
11. जाति व्यवस्था से मुक्ति 63
12. उपभोक्तावाद से मुक्ति 68
13. बोरियत/अजनबियत से मुक्ति 71
14. अज्ञान से मुक्ति 75
15. मुत्यु से मुक्ति 77
16. अंत में मुक्ति से मुक्ति 80

प्रकाशित पुस्तिकाएं –

1. ज्ञानः क्या–क्यों–कैसे
2. आइए अपने को गंभीरता से लें।
3. फ्रांस की क्रांति
4. जनतंत्र की अर्थवत्ता
5. दुनिया तुझे सलाम
6. भगत कथा
7. भ्रष्टाचार
8. मानव–मुक्ति कथा
9. संस्कृति : जीवन जीने और बदलने की राह
10. क्या आप सुखी है
11. धर्म : कल, आज और कल

शीघ्र प्रकाश्य –

विकास : कल, आज और कल, आदिग्रंथ वेद,
सबसे बड़ी उपलब्धि मित्रता
सिनेमा

1

मुक्ति का मतलब

'मानव जन्मजात स्वतंत्र है पर हर कहीं जंजीरों में जकड़ा है।'

— **रूसो**

अट्ठारहवीं सदी में यूरोप में एक वैचारिक क्रांति हो रही थी जिसे इतिहासकारों ने 'ज्ञानोदय या प्रबोधन' (एनलाइटेनमेंट) कहा है। इसे सबसे अच्छी तरह परिभाषित किया है जर्मन, दार्शनिक **इमैनुएल कान्ट** ने। उसने एक छोटा किंन्तु थोड़ा कठिन लेख लिखाः 'प्रबोधन क्या' है। उसने व्याख्या की कि मनुष्य अभी बच्चे की तरह लड़खड़ता है। उसे जरूरत है वयस्क होने की, परिपक्व होने की, आत्मनिर्भर होने की।

इस वयस्कता के लिए प्रबुद्व यानी तर्कशील, विवेकशील, होना चाहिए। इस क्रम को पश्चिम यूरोप के कई विचारकों ने आगे बढ़ाया। उन्हीं में से एक था स्विटजरलैंड से आकर फ्रांस में बस गया **जां जाक रूसो**। वह दूसरों की तरह तर्कशील तो नहीं था परन्तु उसी ने पहली बार इतना खुल कर कहा कि मनुष्य को प्रकृति ही मुक्त पैदा करती है। लेकिन वह स्वयं अलग–अलग कारणों से अपनी और दूसरों की मुक्ति को जंजीरों में जकड़ता रहता है। उसकी इसी बात में इशारा था कि मुनष्य को ये जंजीरें तोड़नी चाहिए ताकि वह वास्तव में मुक्ति का आस्वादन कर सके, उसके मजे ले सके और उद्वेलित फ्रांसिसियों ने 1789 ई. में मुक्ति का एक विस्फोट कर दिया। उसी फ्रांसिसी क्रांति से उपजी थी सबसे छोटी कविता और सबसे बड़ा आह्वान **'इन्कलाब जिन्दाबाद'** (वीव ला रिवोल्यूसिओं) जो आज तक मुक्ति की आकांक्षा का सबसे लोकप्रिय सूत्र बना हुआ है। इसी भावना को फ्रांसिसी क्रांति ने **'स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व'** के रूप में सूत्रबद्ध किया था।

वह मानव की मुक्ति यात्रा का एक बड़ा पड़ाव था। यह यात्रा हजारों साल पहले शुरू हुई थी और आज भी मंजिल के पास नहीं नजर आ रही है। इस बीच कई नई–नई जंजीरें जकड़ लेती हैं। सबसे बड़ी बात यह कि बाहरी जंजीरें एक–एक कर तोड़ी जा रही हैं, लेकिन अंदर–अंदर बड़ी सूक्ष्म जंजीरें जकड़ती जा रही हैं।

आइए इस लंबी और कठिन यात्रा की एक झलक देखी जाएः पता नहीं कितने

हजार साल पहले धरती पर आदमी नहीं था। जल में रहने वाले कई तरह के जीव जंतु थे, जल और थल दोनों पर समान रूप से विचरण करने वाले जानवर थे, रेंगने वाले जानवार थे, चिड़ियां थीं, स्तनपायी जानवर थे, तरह–तरह के बंदर थे। धरती के समानान्तर रीढ़ वाले चार पैरों पर चलने वाले बंदरों में से ही कुछ ने दो पैरों पर चलने की जोखिम उठा ली और जन्म हो गया दो पायों का यानी मानव का।

आप ही बताइए यह था कि नहीं मुक्ति की ओर एक कदम, बड़ा ही जोखिम भरा कदम। इसकी आज तक कीमत चुका रहा है आदमी। प्रकृति ने रीढ़ की हड्डी बनाई थी सीधी धरती के समानान्तर। पर आदमी ने रीढ़ को लम्बवत् खड़ा कर दिया और आज तक कमर सीधी करने को आराम की सबसे अनुकूल मुद्रा समझता है। दो पैरों पर चलने की अप्राकृतिक मुद्रा की सजा के रूप में है कोई इन्सान जो कभी न कभी कमर और पीठ के दर्द से परेशान न रहता हो?

जनाब हजरते इन्सान पैदा तो हो गए लेकिन इन्सान बनते ही जिस्म कमजोर और दिमाग मजबूत होना शुरू हो गया। ऐसी धरती पर जहां जिंदा रहने की जंग जारी है इंसान अकेला जीव था जिसने प्रकृति की धारा में बहते जाने की जगह तैर कर अपने मन की करने की ख्वाहिश पैदा कर ली थी। बाकी लाखों, करोड़ों, जीव–जंतुओं की, कीट–पतंगों की पूरी तरह परवाह प्रकृति करती है। सभी के पोषण और सुरक्षा के लिए अद्‌भुद संतुलन है प्रकृति में। लेकिन आदमी ने अवज्ञा की थी इसलिए असुरक्षित हो चला था। लेकिन जहां अन्य प्राणियों का विकास थम गया था आदमी का जारी था। उसके शरीर के ही एक हिस्से दिमाग की फितरत बदल रही थी। उसमें सोचने–समझने की कूवत बढ़ रही थी।

आदमी ने देखा कि कभी–कभी जंगलों में आग लग जाती है और खूंखार से खूंखार जानवर तक जान बचाकर भागने लगते हैं। यह तो एक अजूबा था। पर आदमी के वश में नहीं था। एक दिन किसी नर या अभी भी बानरनुमा नर ने पत्थरों के टकराने से चिनगारी उड़ती देखी। चिनगारी सूखे पत्तों पर गिरी और आग लग गई। चकराया आदमी। फिर उसने वह कोशिश दोहराई– पत्थरों को टकराया, रगड़ा और चिनगारी बाहर कूद पड़ी। और मानव ने अग्नि का भरपूर इस्तेमाल शुरू किया। उसे देवता बना दिया। अपनी यात्रा के दौरान, जिसे आज सभ्यता कहते हैं, उसने बहुत से देवता बनाए– भुलाए, लेकिन अग्नि शुरू से आज तक मानव का सबसे बड़ा मित्र बना हुआ है। यह भी इस यात्रा की एक भूल–भुलैया है कि इस सबसे पहले

और उपयोगी उपकरण का आदमी ने विध्वंसक उपयोग भी सीख लिया और आज वही विध्वंस का ही नहीं नर संहार का भी सबसे बड़ा हथियार बना हुआ है।

मानव मुक्तियात्रा में अपनी दासता के भी उपक्रम करता गया है। सभ्यता और बर्बरता के बीच का घातक द्वन्द्व विविध रूपों में आज तक जारी है। फिलहाल किसी की जीत होती दिखाई नहीं दे रही हैं। आशा की एक ही किरण है। शिव ने तो एक ही भस्मासुर को जन्म दिया था। पर अन्ततोगत्वा बच गए थे। आदमी ने तो न जाने कितने भस्मासुर पैदा किए हैं। पर उनसे बचने के उपाय भी ढूंढता जा रहा है। उम्मीद है कि आखिर में वह अपने भस्मासुर पैदा करने की प्रकृति पर विजय पा ही लेगा। तभी संस्कृति की सभ्यता पर, विवेक का प्रवृत्तियों पर, स्थायी अंकुश लग पाएगा और मानव मुक्ति का चरमोत्कर्ष आएगा और उसमें अब तक के परिमाणत्मक परिवर्तनों की जगह एक गुणात्मक परिवर्तन होगा।

यहां रुक कर यह देख लें कि दो पैरों पर खड़ा होने से पशुता से मुक्ति मिली। पर क्या वास्तव में मिली? अग्नि के आविष्कार से भय से मुक्ति मिली। पर क्या वास्तव में मिली? मानव ने शारीरिक पशुता से मुक्ति पाई पर मानसिक, और मनोवैज्ञानिक पशुता तो आज भी बरकरार है जो अक्सर किसी को दी जाने वाली गालियों– 'जंगली', 'जानवर' आदि, में अब तक जारी है। इसी तरह आग से जानवरों के डर से मुक्ति मिली पर आग धीरे–धीरे शत्रुता से निपटने का हथियार बनती गई। अग्नि को ही हथियारों में कैद कर दिया गया और अग्निबाण से परमाणु बम तक का इस्तेमाल विजय के लिए किया जाने लगा।

विजय का एक ही रूप है जिसमें कोई व्यक्ति पराजित नहीं होता– आत्म–विजय। वर्ना हर विजय किसी को पराजित करती है और उसकी मुक्ति छीनती है उसे, बाधित करती है।

कहीं ऐसा तो नहीं कि सभ्यता के प्रारंभ से ही एक ओर मनुष्य मुक्ति के प्रयास करता रहा है तो दूसरी ओर मनुष्य ही मनुष्य की विविध दासताओं के लिए भी जिम्मेदार रहा है। इसे और ठीक तरह से समझने के लिए क्या सही तरीका यह नहीं होगा कि पहले हम मुक्ति की अवधारणा पर थोड़ा विस्तार से बात कर लें।

मुक्ति क्या है? क्या इसे नकारात्मक व्याख्या द्वारा ही समझा जा सकता है? यानी मुक्ति दासता के बंन्धनों की अनुपस्थिति मात्र है। क्या इसकी सकारात्मक व्याख्या नहीं हो सकती?

वास्तव में मुक्ति एक विराट अवधारणा है जिसके निहितार्थ बहुत सूक्ष्म हैं। पारंपरिक हिंदू धर्म में जीवन के लक्ष्यों को आदर्श के रूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को स्थापित किया गया था। यहां मोक्ष एक धार्मिक लक्ष्य था, जिसे इस तरह से परिभाषित किया गया था कि मोक्ष आवागमन से मुक्ति है यानी जीवन के बंधनों से भी मुक्ति है। इस मुक्ति की सबसे प्राचीन कथा कठोपनिषद् में वर्णित है, **नचिकेता** और यम के बीच संवाद के आख्यान में। इस कथा में **नचिकेता** नामक **वाजस्रव** ऋषि के पुत्र को अपने प्रयासों से मुक्ति मिली है। इस मिथक में मनुष्य के जिज्ञासु होने और मुक्ति की आकांक्षा रखने का पहला चित्रण मिलता है। एक और कथा **प्रहलाद** की है, जिसमें वह पिता द्वारा थोपे गए बंधनों को अस्वीकार करता है। यहाँ भी बंधनों और नियति से भी मुक्ति की बात थी, पर मुक्ति केवल धार्मिक धारणा नहीं है। वह एक 'सेक्यूलर' सांसरिक धारणा है, जिसमें स्वतंत्रता और इच्छा की स्वतंत्रता (फ्री विल) को आधार माना जाता है। इसके लिए राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता आदि को अनिवार्य पूर्वशर्त मानना चाहिए। यह स्वतंत्रता बौद्धिक स्वतंत्रता, अकादमिक स्वतंत्रता, नैतिक स्वतंत्रता के संदर्भ में भी समझी जानी चाहिए।

व्यवहारिक जीवन में गरीबी, भूख, बीमारी, पीड़ा, तनाव, ऋण, हिंसा, युद्ध आदि से स्वतंत्रता के बिना संविधान–प्राप्त स्वतंत्रताओं का कोई महत्व नहीं रह जाता।

यहां इस बात पर उपयुक्त जोर दे देने की आवश्यकता है कि बाहर से किसी भी तरह के बंधन और अुकंश की गैरमौजूदगी में यानी बाहर से हर तरह की मुक्ति के बावजूद अगर व्यक्ति की मनीषा मुक्त नहीं है तो वह चरितार्थ नहीं हो सकती। इसी प्रकार मुक्त मानस का व्यक्ति भी बाहर के बंधनों के कारण वास्तव में मुक्त नहीं हो सकता। इस तरह यह तो तय है कि वास्तव में बाहरी और आतंरिक बंधनों से मुक्ति अनविार्य स्थिति है मुक्ति के लिए। परंतु अगर बंधनों की अनुपस्थिति ही मुक्ति है तो वह तो एक शून्य की स्थिति होगी। यानी उस अनुपस्थिति में स्थित क्या हो? स्थित होना चाहिए ऐसा अपरिग्रह, ऐसी निर्लिप्ति, ऐसी विदग्धता जिसके कारण किसी प्रकार का बंधन कारगर ही न हो सके।

बहरहाल हम इस दार्शनिक विमर्श में न पड़ते हुए मानव मुक्ति की कथा में मुख्यतः बंधनों से मुक्ति के प्रयासों की ही चर्चा करें।

हमने देखा कि अग्नि ने एक हद तक सुरक्षा तो दी थी पर सर्दी–तूफान–भोजन की अनुपलब्धता आदि से तो असुरक्षा बनी ही रहती होगी। इसके हल ढूंढने के उपक्रम

में मुनष्य ने 'घर' और 'कृषि' का अविष्कार किया। इन दोनों अविष्कारों में नारी की पहल निर्णायक रही होगी। मानव जाति की प्रजनन प्रक्रिया और शिशु–पोषण जितना जटिल है उसके कारण नारी के लिए किसी स्थान पर, कुछ दिनों का ही सही, स्थायी निवास अपरिहार्य रहा होगा। इस क्रम में एक घर एक तरह का स्थायित्व तो देता ही है।

पशुपालन और कृषि ने भोजन की अनिवार्यता और तज्जनित असुरक्षा से कुछ राहत तो दी ही। पर घर खेत और पालतू पशुओं यानी सम्पत्ति की सुरक्षा एक समस्या बन गई होगी। इसी क्रम में संगठनों और संस्थाओं के बीज पड़े होंगे। नहीं? घर परिवार सम्पत्ति के अस्तित्व में आते ही राग–द्वेष का जन्मना स्वाभाविक रहा होगा। फिर तो व्यक्ति की सुरक्षा में सामुदायिक सुरक्षा की बृहत्तर समस्या पैदा हुई होगी। ऐसे में कबीलों फिर राज्य जैसी संस्था का विकसित होना समझ में आता है। पर जब कई कबीले और कई राज्य बन गए होंगे तों उनकी सुरक्षा भी तो समस्या बन गई होगी। नहीं?

शरीर की अपर्याप्ता से मुक्ति के प्रयास में मनुष्य ने तरह–तरह के उपकरण बनाने शुरू किए होंगे। अब चूंकि उन्हें उपलब्ध थी धरती, वनस्पतियां, चट्टानें आदि तो उन्हीं की मदद से उपकरण बनने शुरू हुए। सबसे ज्यादा पत्थरों का इस्तेमाल हुआ इसलिए मानव विकास के एक बहुत बड़े काल को 'पाषाण काल' कहते हैं। उपकरणों और हथियारों ने हाथों की क्षमता बढ़ाई। फिर तो इस क्रम में तांबे और लोहे का आविष्कार हुआ और उपकरण बेहतर होते चले गए।

इसी तरह चीजों के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में शरीर की अपर्याप्तता से मुक्ति पाने के क्रम में एक तो पालतू जानवर ढोने के काम में आने लगे। इस हाथी जैसे विशाल और ऊंट जैसे बेढंगे जानवर को भी लद्दू बनाकर छोड़ा।

दूसरे, लुढ़कने से गति पैदा होते देख मानव ने पहिए का आविष्कार कर लि और फिर तो तरह–तरह की गाड़ियां बनती गईं। पहिए के नए–नए रूप बनते जैसे कुम्हार का चाक और यंत्रीकरण में पहिया की धारणा निर्णायक हुई।

मनुष्य के हाथों की शक्ति सीमित थी। फिर बैल और घोड़े की शक्ति इस्तेमाल होने लगा। आज भी 'हार्स पावर' बल को मापने की इकाई बना हुआ

यह सिलसिला हजारों साल तक चलता रहा। फिर पारंपरिक ऊर्जा अप लगने लगी। आवश्यकता अविष्कार की जननी है वाली स्थिति पैदा हुई और

वाट को पतीली में उबाल आने पर खदबदाहट का रहस्य जानने का मन किया और भाप की शक्ति का आविष्कार हो गया। फिर तो उसका उपयोग बढ़ता ही गया और मानव अपनी बढ़ती जरूरतों और उनको पूरा करने के लिए और अधिक ऊर्जा की आवश्यकता का दास बनता गया। चुंबकत्व, बिजली और अंततः सौरऊर्जा, पवनऊर्जा आदि को लांघता हुआ परमाणु ऊर्जा तक पहुंच गया। इस ऊर्जा में अनन्त शक्ति है और इस शक्ति का जितना सृजनात्मक उपयोग है उससे कई गुना अधिक विध्वंसक। इस ऊर्जा को प्राप्त करने की प्रकिया में ही इतने खतरे निहित हैं कि इसके सृजनात्मक उपयोग के दौरान ही सोवियत यूनियन में **चेर्नोबिल** और जापान के **फूकूशीमा** में 2012 ई. में ऐसी दुर्घटंना हुई कि इस ऊर्जा द्वारा ध्वस्त हिरोशिमा और नागासाकी की याद आ गई। कुल मिला कर अपने से बाहर ऊर्जा की तलाश में मानव ऊर्जा की आवश्यकता का ऐसा दास बन गया लगता है कि उससे मुक्ति बिना जीवन शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन के संभव नहीं लग रही हैं।

क्या है यह रोमांचक कथा ?

मानव समाज की विडंबना है कि मनुष्य चीजों को द्वैधता में ही ग्रहण कर पाता है– छोटा–बड़ा, हल्का–भारी, प्रकाश–अंधेरा, अच्छा–बुरा, पुण्य–पाप, स्वर्ग–नर्क आदि। इसी तरह मुक्ति भी बंधन के रू–ब–रू ही समझ में आती है। मनुष्य की मुक्ति की हर कोशिश के बरअक्स एक बंधन है। अपने को भयमुक्त करने के लिए सबसे सूक्ष्म स्तर पर मानव ने सत्ता की अवधारणा विकसित की जिसके शिखर पर है एक सर्वशक्तिमान सत्ता जिसे अलग–अलग धर्म–विश्वासों ने अलग–अलग नाम दिए। सबको उसके आधीन कर दिया और आश्वस्त हो गया कि वही पोषक है, वही रक्षक है।

उस सत्ता का विविध विश्वासों में भिन्न–भिन्न निरूपण किया गया है। भारत में उसे समझने को तीन मार्ग प्रशस्त किए गए– ज्ञान, कर्म और भक्ति। कुल मिला कर यह एक शार्टकट ढूंढने का प्रयास था।

पर शुरू से इस प्रवृत्ति की विरोधी प्रवृत्ति के भी प्रमाण मिलते है– मिथकों और साहित्य में। फिर तो दर्शन में भी ईश्वर की सत्ता को नकारा गया। आज माना जाता है कि प्राचीन भारत में जो दर्शन विकसित हुए उन्हें छः घरानों (स्कूल्स) में बांटा जा सकता है। उनमें से कई ईश्वर की सत्ता को नकारते थे। कुछ विचारकों को चार्वाक कहा जाता है। उन्होंने इसी संसार को सब कुछ माना और अपने बूते पर सुख भोगने की बात की। उनके द्वारा लोकायत व्यवस्था की बात की गई थी, जिसमें किसी भी

प्रकार की प्रभुता को नकारा गया था। इसीलिए सभी प्रभुओं यानी मालिकों ने ऐसे विचार को ही जड़ से मिटा देने का भरपूर प्रयास किया। उनके विचारों में से बस एक बात मानो बचा कर रखी गई–

यावत जीवेत् सुखम् जीवेत्।
ऋणम् कृत्वा घृतम् पीवेत्

यानी जब तक जिओ सुख से जिओ, उधार लेकर भी घी पिओ। जाहिर है यह विचार बहुतों को अच्छा लगता है पर इसे अनैतिक करार दिया गया है। **लोकायत** में स्थापित मानव के मुक्ति–प्रयास को नकार दिया गया। पर ईश्वर के अस्तित्व को तो बुद्ध ने भी नकारा था। उसे भी सनातन धर्म ने नकारा और बुद्ध को ईश्वर का अवतार करार दिया। पर बौद्ध धर्म भारत के बाहर सारे पूर्वी एशिया में फूलता–फलता चलता रहा और अब तो अंबेडकर के माध्यम से भारत लौट आया है।

इस तरह कह सकते हैं कि नास्तिकता, यानी किसी सर्व शक्तिमान परम सत्ता का नकार, मुक्ति की सबसे मौलिक धारणा है।

अट्ठारहवीं सदी में मनुष्य की आत्मनिर्भरता और तर्क बुद्धि की निर्णायकता पर विशेष बल देने वाले 'प्रबोधन' या 'ज्ञानोदय' नामक दर्शन को पश्चिमी यूरोप में कई विचारकों ने प्रतिपादित किया। उन्हीं के प्रभाव में फ्रांस में क्रांति हुई जो मानव मुक्ति का सबसे व्यापक संगठित प्रयास था। उसके बारे में थोड़ा विस्तार से बाद में।

आज हम दासों की बात करते हैं तो अधिकांशतः अफ्रीका के अश्वेत दासों की छवि उभरती है। पर वास्तव में जैसे ही मानव सभ्यता में मालिक (स्वामी) का जन्म हुआ वैसे ही उस मालिकाने (स्वामित्व) को जारी रखने के लिए गुलामों की जरूरत पड़ने लगी। इसी लिए किसी न किसी रूप में भारत, चीन, मिस्र, मेसोपोटामिया आदि सभी प्राचीन सभ्यताओं में दास प्रथा पैदा हुई और कानूनी तौर पर उस पर भले ही आज रोक लगा दी गई हो आज भी बंधुआ मजदूरों जैसे दास भारत में भी मौजूद हैं या नहीं? कहते हैं कि चीन का सामान इसलिए भी बाजार में सबसे सस्ता होता है क्योंकि चीन में मजदूरों से आधुनिक दासों की तरह काम लिया जाता है।

दास अपनी तरह से दासता से मुक्ति के लिए विरोध भी करते रहे हैं पर उनके सबसे संगठित विरोध का ऐतिहासिक प्रमाण रोमन साम्राज्य के दास विद्रोह के रूप में ही मिलता है। यूरोप में दास प्रथा का **अरस्तू** जैसे विचारक इसलिए सर्मथन करते थे कि वे मानते थे कि यह तो एक प्राकृतिक स्थिति है। प्रकृति ने कुछ को मालिक

बनाया है तो कुछ को दास पर इसका विरोध करने वाले भी थे, जैसे ऐसीदामस कहता था कि 'ईश्वर' ने सबको स्वतंत्र पैदा किया है। प्रकृति ने किसी को गुलाम बनाकर नहीं भेजा है दुनिया में।

लोग ऋण चुका न पाने पर, अपराध करने पर और पराजित होने पर गुलाम बनाए जाते थे ताकि उन पर अत्यधिक अत्याचार न हो। कभी–कभी उन्हें आजाद कर दिया जाता था और वे जीवन में सफल भी हो जाते थे। भारत में तो एक गुलाम वंश ही प्रसिद्ध है जिसने बहुत दिनों तक दिल्ली से शासन किया। इसी गुलाम वश के दौरान, कुतुबमीनार जैसी प्रसिद्व इमारत बनी, कबीर जैसे संत ने लोगों को जगाया था और रजिया सुल्तान नामक महिला ने साबित किया था कि महिलाएं किसी भी मायने में पुरूषों से कम नहीं होतीं।

यहां हम आज से दो हजार साल पहले की बात कर रहे हैं। अभी ईसा मसीह का जन्म नहीं हुआ था। इटली में पो नदी के किनारे रोमुलस भाइयों के नाम पर बसे रोम नगर में एक गणतंत्र था जिसे कुछ महत्वाकांक्षी लोग अपनी मुक्ति को बनाए रखने के लिए औरों को दास बना कर चला रहे थे। यह वही गणतंत्र था जिसके एक सेनापति जूलियस सीजर ने जनता के हित के नाम पर अपने को सम्राट बना लिया था, उसी तरह जैसे फ्रांस की क्रांति के बाद स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व के आदर्शों की रक्षा के नाम पर क्रांति के एक सेनापति नेपोलियन ने अपने को सम्राट घोषित करवाकर क्रांति का गला घोट दिया था, उसी तरह जैसे अपने देश में जनता द्वारा निर्वाचित दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र को प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने 'इमरजेंसी' लगा कर अपने को 'इंदिरा इज इंडिया' और 'इंडिया इज इंदिरा' का प्रचार करवाकर जनतंत्र का गला मरोड़ दिया था।

बाहर से आरोपित बंधनों के अलावा मनुष्य की प्रवृत्ति और मानसिकता आदि मुक्ति के विविध आयाम हैं। मुक्ति–कथा मानव सभ्यता की सबसे रोचक कथा है, और इतिहास का सबसे बड़ा मुद्दा भी।

– – –

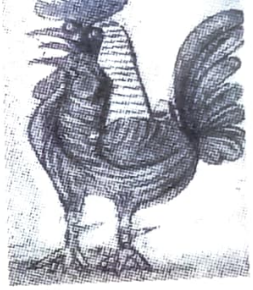

2

दासता से मुक्ति

इक्कीसवीं सदी में जितने दास हैं उतने इतिहास में कभी नहीं रहे होंगे– यह कोई मानेगा? दुनिया के करीब–करीब सभी देश आजाद हो चुके हैं फिर कैसी दासता? यही तो पेंच है– धनी देशों में गरीब और आजाद देशों में गुलाम रहते हैं– यह एक विडंबनात्मक सच्चाई है।

आज पहले जैसी गुलामी भले ही खत्म हो गई हो– सीधी गुलामी– देशों की भी और व्यक्तियों की थी, पर परोक्ष गुलामी तो बनी ही हुई है, देशों की भी और व्यक्तियों की भी। देश नव–उपनिवेश बन गए हैं जिन पर पूंजी का, विशेष कर सयुक्त राज्य अमेरिका का, वर्चस्व बना ही हुआ है। हम केवल व्यक्ति की दासता की बात करें तो क्या बंधुआ मजदूरी खत्म हो गई है?क्या बच्चे और युवतियां आज भी खरीदी– बेची नहीं जाते? क्या घरों में नौकर नहीं रखे जाते? क्या आज भी अधिकांश नारियां घरों में, खास तौर पर ग्रामीण इलाकों में, दासों की तरह नहीं रखी जातीं? क्या आज भी दलित बहुत से इलाकों में गुलामी का जीवन जीने को मजबूर नहीं हैं?

बहरहाल, इतिहास में दास उन्हें कहा गया है जो वस्तुओं या जानवरों की तरह माने जाते थे, जिनकी अपनी कोई इच्छा नहीं मानी जाती थी और जिनके साथ उनका मालिक मनमाना व्यवहार कर सकता था। ऐसा तब नहीं संभव था जब सभी अपना भोजन जुटाने को मजबूर थे। ऐसा तभी हुआ होगा जब खेती शुरू हुई और कुछ लोग इतना पैदा करने लगे होगे कि उनकी पैदावार जरूरत से ज्यादा हो। जैसे ही मालिकाना पैदा हुआ होगा वैसे ही दासता भी पैदा हुई होगी। आज से 5000 पहले **हम्मूराबी** की कविता में दर्ज किया गया था कि दासों को भागने में मदद करने वाले को मृत्युदंड दिया जाना चाहिए। यहूदियों की बाइबिल में भी दासता का जिक्र स्वतंत्र स्थापित संस्था के रूप में होता है। सभी प्राचीन सभ्यताओं में– भारत, चीन, मिस्र, मेसोपोटामिया, खलीफाओं के राज में, लैटिन अमरीकी माया, ऐजटेक और इंका सभ्यताओं में दासता किसी न किसी रूप में मौजूद थी। दास कई तरह के होते थे। जीते हुए क्षेत्रों के लोग दास बना लिए जाते थे। ऋण न चुकाने पर और अपराध के दंड स्वरूप भी लोग दास बना लिए जाते थे

प्राचीन यूनान में तो आधी से अधिक आबादी गुलामों की होती थी जिनका इस्तेमाल मनोरंजन के लिए होता था। उन्हें जानवरों की तरह लड़ाया जाता था। उन्हें 'ग्लेडियेटर' कहते थे। उनका यौन–शोषण भी किया जाता था। इसी तरह रोमन साम्राज्य की शक्ति दासों पर निर्भर थी। वहां के विद्रोहों का भी जिक्र है। (स्पार्टकस के विद्रोह के बारे में होवर्ड फास्ट के उपन्यास 'स्पार्टकस' का अमृत राय द्वारा हिन्दी अनुवाद 'आदि विद्रोही' काफी लोकप्रिय है।) रोमन साम्राज्य के दौरान 10 करोड़ दासों के क्रय–विक्रय का अनुमान लगाया है इतिहासकारों ने।

मध्यकाल में मध्य एशिया और यूरोप में गुलामों की बिक्री के लंबे विवरण मिलते हैं। हजार रातों की दास्तानों में श्वेत दासों का खूब जिक्र आता है। **इब्न बतूता** नाम के यात्री ने लिखा है कि उसे कई बार गुलाम भेंट किए जाते थे या वह उन्हें खरीदता था। मध्यकाल के सबसे नामी विद्वान **इब्न खल्दून** ने तो लिखा है कि अफ्रीका के काले लोग जानवरों जैसे ही होते हैं। वह उन्हें गुलाम बनाना एक स्वाभाविक सा काम मानता है। वहां ये गुलाम कभी–कभी अपनी काबलियत से सुल्तान बन जाते थे। आपको मालुम है कि नहीं कि मुहम्मद गोरी ने जब **पृथ्वीराज चौहान** को हरा दिया तो अपने मुल्क लौट गया और भारत के जीते हुए इलाके पर राज करने की जिम्मेदारी अपने एक गुलाम **कुतुबुद्दीन ऐबक** को दे दी– वही कुतुबुद्दीन जिसकी बनवाई हुई कुतुबुमीनार आज तक शान से दिल्ली की शोभा बढ़ाती है।,

इसी कुतुबुद्दीन के एक गुलाम **इल्तुतमिश** ने राज्य को और आगे बढ़ाया, अपने सिक्के चलवाए और अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। उसके बाद तो गुलामों के सुल्तान बनने का सिलसिला चल पड़ा जो बहुत दिनों तक चलता रहा। इल्तुतमिश ने तो इतनी हिम्मत दिखाई कि उस समय तक हिन्दुस्तान में किसी ने नहीं दिखाई थी। उसने देखा कि उसके बेटे तो लायक हैं नहीं तो उसके बाद उसका राज कैसे चलेगा? उसकी बेटी **रजिया** उसे बहुत प्यारी थी। वह कहता था कि मेरा असली बेटा तो यही है। उसे ही उसने अपने बाद सुल्तान घोषित कर दिया।

रजिया भी बेमिसाल औरत साबित हुई। **रजिया सुल्तान** नाम से उसने शान से राज चलाया और अपने विरोधी गुलामों और दरबारियों के सीने पर दाल दलती रही। उसके एक विदेशी हब्शी गुलाम **याकूत** से प्रेम करने का भी जिक्र आता है। यह सब मर्द प्रधान समाज में कैसे बर्दाशत किया जाता? फिर तो सारे दरबारी अमीरों ने मिलकर षडयंत्र किया और रजिया सुल्तान को कैथल के पास पराजित कर उसकी हत्या कर दी। आज भी उसका मकबरा औरतों की संभावना की दास्तान कहने को आतुर है।

रजिया की कहानी औरतों की मुक्ति की एक अनोखी दास्तान है।

इसी गुलाम वंश में अलाउद्दीन **खिलजी** हुआ जिससे बचने के लिए पद्मावती के जौहर की कहानी रोमांचित करती है। उसी अलाउद्दीन ने अपनी सेना का विस्तार करने और उसके खर्चे पूरे करने के लिए इतिहास का पहला 'बाजार नियंत्रण' शुरू किया था। हर चीज का दाम निश्चित कर दिया गया और कालाबाजारी करने वालों को भयानक दंड दिया जाता था। यह आज भी संभव नहीं हो पा रहा है। इसी अलाउद्दीन ने शासन में धर्म के हस्तक्षेप का विरोध करते हुए दिल्ली के काजी को खूब डांट पिलाई थी।

इसी गुलाम वंश के **फिरोज तुगलक** ने पहली गंगा नहर बनवाई थी जिसके कारण आज तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश पूरब से कृषि के मामले में आगे है। इसी वंश में **मुहम्मद तुगलक** नाम का बेहद प्रतिभाशाली सुल्तान हुआ जिसे समय के आगे और अन्तर्विरोधों का पुतला आदि कहा जाता है। उसी ने राजधानी **दिल्ली** से **दौलताबाद** और फिर दौलताबाद से दिल्ली बदली थी जिसे आज मुहावरे की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उसी ने 'टोकन' सिक्का चलाने की बात सोची थी। आज तो यह आम बात है।

कुल मिलाकर यही साबित होता है कि दासता एक अप्राकृतिक बात है। दासों को भी जब भी अवसर मिला है उन्होंने असाधारण प्रतिभा दिखाई है।

आधुनिक काल में कोलंबस अपने साथ पुरानी दुनिया के तमाम राग–द्वेष, लाभ–हानि, रोग–दोष लेकर नई दुनिया यानी अमरीकी महाद्वीपों में पहुंचा। धीरे–धीरे यूरोप के लोगों ने दो महाद्वीपों पर ईसाई धर्म और यूरोप की औपनिवेशिक सत्ता थोप दी। अमरीकी मूल निवासियों को कोलंबस ने 'इंडियन' कहा था, क्योंकि वह तो इंडिया यानी भारत का नया रास्ता खोजने ही निकला था। बाद में जब पता चला कि असली इंडिया तो वह है नही तो अमरीका वासियों को असली इंडियंस से अलग करने के लिए 'रेड इंडियंस' कहा जाने लगा क्योंकि इनकी चमड़ी का रंग तो तांबई था। इन लोगों को हर प्रकार के छल–छद्म द्वारा पूरी तरह ध्वस्त कर दिया गया। उनका संहार भी हुआ और उन्हें दास भी बनाया गया। फिर यूरोप से कई गुणा बड़े महाद्वीप में यूरोप से आए थोड़े लोगों की आज की अमरीकी समृद्वि की नींव अफ्रीकी दासों के खून–पसीने से रखी गई।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक दास व्यापार खूब फूला–फला। यूरोप में पूंजीवाद के आने के बाद दासों की जरूरत नहीं रही क्योंकि घर के जानवरों की ही तरह दासों की परवरिश तो करनी ही पड़ती थी। वह काम करने लायक बने राहे इसके लिए उनका मेहनत करने लायक बने रहना तो जरूरी था ही। पूंजीवाद के लिए तो दिहाड़ी के मजदूर चाहिए थे। जब काम हुआ तो उनसे मजदूरी करवायी उसके बाद वे जिएं या मरें वे जानें। यह व्यवस्था और अधिक अमानवीय थी पर पूंजीवाद तो है ही इतिहास की सबसे

अमानवीय व्यवस्था। पूंजीवाद किसी उस चीज को स्वीकार नहीं सकता जिसकी उसे जरूरत न हो। इसलिए धीरे–धीरे यूरोप के देशों में दास व्यवस्था खत्म की जाने लगी।

यही हाल अमरीका में भी हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका में उदार ईसाइयों के एक पंथ–'क्वेकर्स', ने सबसे पहले इसका विरोध किया। साहित्य में दासों की दुगर्ति का चित्रण होने लगा। एक कवि **लांगफेलो** ने एक गुलाम का सपना (स्लेव्स ड्रीम) नामक कविता में दासों का दर्द अभिव्यक्त किया। 'टाम काका की कुटिया' (अंकल टाम्स केबिन) में दासों की दुर्दशा की मर्मस्पर्शी तस्वीर खींची गई।

सबसे बड़ी बात यह कि संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी क्षेत्र में औद्योगीकरण इतनी तेजी से बढ़ा था कि अब दासों नहीं, दिहाड़ी मजदूरों की जरूरत थी। दक्षिण के राज्यों में अभी भी कृषि ही मुख्य पेशा था और बड़े–बड़े फार्मों में दास ही खेती करते थे। इस तरह अमरीकी महाद्वीपों के सबसे बड़े राज्य में, जो भविष्य में दुनिया का सबसे शक्तिशाली राज्य बनने वाला था, एक अभूतपूर्व तनाव पैदा हो गया। एक ओर थे उद्योग और पूंजीपति तो दूसरी ओर थे कृषि और बड़े–बड़े फार्मर। कोई झुकने को तैयार नहीं था। इस समय राष्ट्रपति था लकड़हारा **अब्राहम लिंकन**। उसने दास प्रथा का अंत करने का पक्ष लिया और उसको खत्म करने का कानून बनवा दिया। दक्षिण के लोग इसे मानने को तैयार नहीं थे इसलिए एक भयानक गृह–युद्ध शुरू हो गया, जिसमें उतार–चढ़ाव के बाद उत्तर के राज्यों की जीत हुई और अब्राहम लिंकन अमरीका के महान राष्ट्रपतियों में शामिल हो गया। उसी ने युद्ध के बाद के एक भाषण में कहा था कि अब आशा है कि **'जनता की, जनता द्वारा और जनता'** के लिए सरकार स्थायी बनी रहेगी। यही जनतत्र की सबसे लोकप्रिय परिभाषा बन गई। पर इस ऐतिहासिक काम ने अमरीका के उन लोगों को बहुत क्षुब्ध कर दिया जो दास प्रथा को बनाए रखना चाहते थे। उन्हीं में से एक ने अब्राहम लिंकन की हत्या कर दी और लिंकन को शहीद का दर्जा मिल गया।

कानूनन तो दास प्रथा का अंत हो गया पर अधिकांश सामान्य लोग अश्वेत लोगों को बराबरी का दर्जा देने को तैयार नहीं थे। इसलिए भयानक भेदभाव चलता रहा। दक्षिण के राज्यों में तो स्कूलों, बाजारों यहॉ तक कि पार्कों में भी 'ब्लैक्स' को बराबर नहीं माना जाता था। कोई विरोध करता तो उसे कड़ी सजा दी जाती। द्वितीय विश्वयुद्ध फासीवाद के विरूद्व लड़ा गया था और अमरीका की फासीवाद के पराजय में बड़ी भूमिका थी। मानवाधिकारों की बात जोर पकड़ने लगी थी पर अश्वेत लोगों के विरूद्ध भेदभाव नहीं रुका।

इस पृष्ठभूमि में दूसरे महायुद्ध के बाद एक अमरीकी पादरी मार्टिन लूथर किंग की

भूमिका ऐतिहासिक मानी जाती है। उसके भाषण को सारे विश्व में सराहा गया। उनका सपना– **'आइ हैव ए ड्रीम'** एक ऐसा सपना था, जिसमें उत्पीड़क शोषण श्वेत लोगों के प्रति घृणा नहीं थी– वह तो मानव बिरादरी में बिरादराना सद्भाव और समदर्शिता का सपना था। उसने अश्वेतों में तो एक ऊर्जा भरी ही बहुतेरे श्वेत लोग भी इस शांतिपूर्ण संघर्ष में आ खड़े हुए। किंग अपने को गांधी का अनुयायी कहते थे। और उनका संघर्ष तब और सार्थक हो गया जब अमरीका में अभी भी व्याप्त संकीर्णता के एक प्रतिनिधि ने उनकी हत्या कर दी। धीरे–धीरे अश्वेतों के साथ मतभेद का रवैया कमजोर पड़ता गया और सार्वजनिक स्थानों पर खुले आम मतभेद करीब–करीब खत्म हो गया– करीब–करीब इसलिए कि वह निर्मूल नहीं हुआ है और बीच–बीच में रंग–भेद का विस्फोट हो जाता है जैसे कैलीफोर्निया में भेदभाव के कारण हुए दंगों के समय। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि रंग–भेद की सबसे कट्टर समर्थक संस्था **'कू क्लक्स क्लान'**, जिसका एक जमाने में अमरीकी समाज में आतंक था, आज भी मरी नहीं है।

बहरहाल जब बराक ओबाम अमरीका के राष्ट्रपति चुने गए तो कुछ पत्रकारों ने कहा कि किंग का सपना पूरा हो गया। इसे एक हद तक सही माना भी जा सकता है कि अभी कुछ दशकों पहले तक किसी अश्वेत का राष्ट्रपति निर्वाचित होना अकल्पनीय था अमरीका में सारी दुनिया के धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं पर समाज और राज्य मे **WASP (White Anglo Saxon Protestant)** का ही वर्चस्व था। जैसे आज भी भारत में सभी पदों पर विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग पदासीन हो चुके हैं पर प्रधानमंत्री कोई दलित या मुसलमान होने में अभी भी देर है। भारत की ही तरह ऊपर से जनतंत्र अमरीका में भी फल–फूल रहा है पर पूरी तरह जनमानस जनतांत्रिक होने में अभी देर है। फिर भी सामाजिक स्तर पर तो अमरीका में व्यक्ति–व्यक्ति में बराबरी की स्थिति बेहतर है। यह दूसरी बात है कि ब्लैक प्रेसीडेंट भी श्वेत की ही तरह साबित हो रहा है– ठीक वैसे ही जैसे भारत में दलित अधिकारी भी सवर्णों की ही तरह व्यवहार करते हैं।

20 वीं शताब्दी में नस्लवाद का सबसे बड़ा गढ़ दक्षिण अफ्रीका बना हुआ था। वहां के नस्लवादी सरकार किसी भी कीमत पर अपने रंग–भेद की नीति में परिवर्तन को तैयार नहीं थी। हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध में नस्लवाद के सबसे बड़ी विचारधारा फांसीवाद के संस्थापक मुसोलिनी और हिटलर की पराजय हो चुकी थी और दुनिया में उपनिवेश की स्वतंत्रता का दौर चल रहा था पर दक्षिण अफ्रीका की सरकार के कानों पर जूं तक नहीं रेंग नहीं थी। नस्लवाद के इस गढ़ को ढहाने का सबसे बड़ा श्रेय **नेल्सन मंडेला** को है।

नेल्सन का जन्म् 1918 में हुआ था। उनके पिता थम्बू जनजाति के मुखिया थे और

नेल्सन को भी भविष्य में यही जिम्मेदारी निभानी थी। इस बीच उनकी शादी की तैयारिया शुरू हुईं तो वह घर से भाग खड़े हुए और जोहानसबर्ग में चौकीदारी जैसी नौकरी करते हुए अंततः उन्होंने वकालत की परीक्षा पास कर ली। उन्होंने **वाल्टर शिशुलू और ओलिवर टैम्बो** की मदद से 'अफ्रीकन नेशनल कॉग्रेस' की स्थापना की जिसने नस्लवाद विरोधी संघर्ष की अगुवाई की। इस बीच अश्वेतों का भारी दमन होता रहा और दुनिया में उसकी निन्दा भी होती रही, पर सरकार यूनाइटेड नेशन्स में हो रही निन्दाओं और आर्थिक प्रतिबंधों की भी परवाह नहीं करती रही। मंडेला 29 वर्षों तक जेल में रहे पर उन्हें अंततः छोड़ना पड़ा।

वह सबसे लंबे राजनीतिक कैद और अनवरत संघर्ष के कारण दुनिया के सबसे मशहूर कैदी बन गये।

सह–अस्तित्व के माहौल में 1994 में व्यस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव हुए और नेलसन मंडेला भारी बहुमत से दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति चुन लिये गये। इस प्रकार दुनिया में नस्लवाद का आखिरी गढ़ ढह गया और दक्षिण आफ्रीका के श्वेत सम्पत्ति धारकों को आश्वस्त किया गया कि उन पर कोई पलटवार नहीं किया जाएगा। तब से दक्षिण अफ्रीका में जनतंत्र जारी है। अश्वेतों की स्थिति बेहतर तो हुई है पर अभी भी उनकी आर्थिक विपन्नता बरकरार है। मंडेला ने स्वयं ही सत्ता की बागडोर अपने युवा साथियों को सौंप दी और नस्लवाद तथा उपनिवेशवाद के विरूद्व संघर्ष करने वाले सबसे वरिष्ठ जीवित नेता के रूप में वे समस्त विश्व में सम्मानित हैं।

यह तो कहा जा सकता है कि औपचारिक रूप से दासता समाप्त हो गई है पर दासता बंधुआ मजदूरों जैसी स्थिति में आज भी मौजूद है। सबसे बड़ी बात यह कि मानसिक दासता के रूप में तो उसका विस्तार होता जा रहा है और यह अधिक खतरनाक है। लोभ–लाभ की दासता तो सम्पन्न और सशक्त लोगों को भी लिजलिजा बना रही है। आज समाज में बढ़ती जा रही यही लिजलिजाहट दास मनोवृत्ति का सबसे घृणास्पद उदाहरण है।

राजनीतिक दासता से मुक्ति

मानव इतिहास में सबसे अधिक राजनीतिक दासता से मुक्ति के प्रयास ही दर्ज हैं, क्योंकि इतिहास मुख्यतः राजनीतिक ही रहा है, और आज भी काफी हद तक है। राजनीतिक दासता में ही दासता सबसे अधिक मूर्त होती है। यह भी सच है कि यही दासता अन्य बहुत प्रकार की दासताओं के मूल में होती है। इसलिए राजनीतिक दासता के माध्यम से ही आइए दासता की प्रकृति को भी ठीक से समझने की कोशिश करें। दासता मनुष्य पर आरोपित वह स्थिति है जिसके कारण वह अपने मन की नहीं कर

सकता। दूसरे शब्दों में उसका हित किसी दूसरे के हित के मातहत हो जाता है।

दासता के दो प्रकार होते हैं–

1. वैयक्तिक दासता और , 2. सामुदायिक दासता।

वैयक्तिक दासता वह होती है, जिसमें मनुष्य अज्ञान, आलस, व्यसन आदि के कारण वह करता रहता है जो वास्तव में उसके हित में नहीं होता। सामुदायिक दासता बाहर की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियों के कारण पैदा होती है। जिसके कारण कोई व्यापक समुदाय वर्ग, जाति और देश पराधीन हो जाते हैं। व्यक्तिगत दासता से मुक्ति के प्रयास व्यक्तिगत स्तर पर भी हो सकते हैं। पर सामुदायिक दासता के लिए सामुदायिक प्रयास ही आवश्यक होता है।

राजनीतिक दासता का प्रारंभ राज्य के निर्माण के समय ही शुरू हो गया। राज्य का जन्म ही इसलिए हुआ था कि एक व्यक्ति यानी राजा अपनी मातहत प्रजा के बीच व्यवस्था बनाए रखे। इसलिए सारतः प्रजा दास ही होती थी, क्योंकि वह कुछ भी ऐसा नहीं कर सकती थी जो राजा की मर्जी के खिलाफ हो। राजा की मदद के लिए कुछ सलाहकार मंत्री और सेनापति आदि होते थे। पर वे भी सारतः राजा के दास ही होते थे।

प्राचीन काल में राजा पर अंकुश लगाने के लिए अलग–अलग देशों में अलग–अलग संस्थाओं के विकास की चर्चा होती है। उदाहरण के लिए भारत में 'सभा', 'समिति' जैसी संस्थाओं का वर्णन मिलता है। कुछ जगहों पर गणतंत्रों का भी विकास हुआ था जो आज की तरह के गणतंत्र नहीं थे। वे कुछ कुलीनों के संगठन थे जो मिलजुल कर शासन करते थे। प्राचीन काल में ही विजय–पराजय की धारणा विकसित हो गई थी। कुछ शासक अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करते और पूरे–पूरे इलाके को अपना दास बना लेते भारत में प्रभुत्व बढ़ाने वाले चक्रवर्ती राजाओं को महान माना जाता था। यूरोप में भी सिकन्दर और जूलियस सीजर द्वारा राज्य विस्तार की गाथाएं इतिहास में दर्ज हैं।

बाहर की दासता खत्म करने के प्रयासों से अधिक अंदर की दासता से मुक्ति के प्रयास अधिक गौरवांवित किए गए हैं। रोमन साम्राज्य में दासों के विद्रोहों का काफी जिक्र है। उनमें स्पार्टकस का विद्रोह तो विश्व विख्यात है। **होवर्ड फास्ट** ने 'आ विद्रोही' **स्पार्टकस** के बारे में ऐतिहासिक गल्प लिखकर उसे मुक्ति संग्रामों का प्रेरणास्रोत बना दिया है।

1215 ई. में, इंग्लैंड के कुछ सामंतों ने राजा के निस्सीम अधिकारों पर अंकुश लगाने के लिए एक चार्टर पेश किया था। वह इतिहास में **'मैग्नाकार्टा'** के नाम से विख्यात और दुनिया में राजतंत्र को सीमित करने के पहले संगठित प्रयास के रूप में विख्यात है।

आधुनिकाल में राजनीतिक दासता और उससे मुक्ति के प्रयास, दोनो ही बढ़ते गए

यूरोप में पन्द्रहीं–सोलहवीं शताब्दी के दौरान एक ओर मानव–केन्द्रिता की धारणा विकसित हुई और मनुष्य को अधिकाधिक महत्व मिलने लगा तो दूसरी ओर पूंजीवाद का आविर्भाव हुआ जो मनुष्य के शोषण–उत्पीड़न पर ही आधारित था। इसलिए एक तरह की ऐसी ऐतिहासिक विडम्बना का विकास हुआ जिसमें राजनीतिक दासता बढ़ती गई और साथ ही उससे मुक्ति की आकांक्षा भी।

आधुनिकाल के शुरू से ही दूसरों को दास बनाने का जो सिलसिला शुरू हुआ तो एक समय ऐसा भी आ गया कि सारी दुनिया के अधिकांश देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूरोप के देशों के दास हो गए। लातिन अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया जैसे महाद्वीप दास बना लिए गए। यह पूंजीवादी साम्राज्यवाद का दौर था और सबसे बड़े साम्राज्यवादी देश ब्रिटेन के राज्य में तो सूरज कभी डूबता ही नहीं था, यानी करीब–करीब हर अक्षांश पर ब्रिटेन का कोई न कोई उपनिवेश था ही। उपनिवेशों में प्रजा के कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होते थे। बाद में कुछ विकसित देशों द्वारा उपनिवेशों को, जैसे भारत को, कुछ अपनी ही सुविधा के लिए तो कुछ राजनीतिक आंदोलनों के दबाव में थोड़े बहुत राजनीतिक अधिकार दिए जाने लगे। यहां हम संक्षेप में राजनीतिक मुक्ति की धारणा पर विचार कर सकते हैं।

वास्तव में, दासता एक दुधारी तलवार होती है। थोड़ी व्यापक दृष्टि से देखें तो दासता ही नहीं कोई भी दुष्कर्म करने वाले का भी क्षरण करता है। मालिक दास को तो दास बनाता ही है उस पर अपनी निर्भरता के कारण वह भी दास का दास होता जाता है। किसान सामंत पर और मजदूर पूंजीपति पर निर्भर होते ही हैं। पर क्या उनके मालिक भी उन पर निर्भर नहीं हो जाते? और नजदीक से देखें तो पितृसत्ता में नारी दास होती है पर क्या पुरुष भी अपनी आवश्यकताओं और आदतों के कारण नारी का दास नहीं हो जाता? इसी तरह ब्राह्मणवाद में दलितों को दास बनाया जाता है। पर उनके मालिक भी क्या उनके दास नहीं हो जाते?।

इसीलिए आत्मनिर्भरता का इतना बड़ा महात्म्य है। 18वीं शताब्दी में जर्मन दार्शनिक **कांट** ने प्रबोधन काल की विशेषता के रूप में आत्मनिर्भरता को स्थापित किया। रूसो ने तो अपने महत्वपूर्ण पुस्तक 'सामाजिक संविदा' में अपनी विश्व विख्यात स्थापनादी थीः 'मनुष्य जन्मजात स्वतंत्र है पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है' (मैन इज बार्न फ्री बट एव्रीव्हेयर ही इज इन चेन्स)। यह मुक्ति का कितना बड़ा आह्वान था इसे इसी से समझा जा सकता है कि जब बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में **लोकमान्य तिलक** ने दोहरायाः 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे' तो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में एक नई चेतना की लहर दौड़ गई थी।

प्रबोधन काल की वैचारिक उथल–पुथल ने फ्रांस को क्रांति की राह दिखा दी और फ्रांसीसी क्रांति का मुख्य नारा ही बन गया 'स्वतंत्रा–समानता –भ्रातृत्व।' फ्रांसीसी क्रांति का मुख्य कारण ही यही था कि समाज का नवोदित पूंजीपति वर्ग आर्थिक रूप से तो सबसे शक्तिशाली था पर उसके पास राजनीतिक सत्ता नहीं थी।

उसी समय अमरीकी महाद्वीप के ब्रिटिश उपनिवेशों ने भी विद्रोह कर दिया और अमरीका ने ब्रिटेन से लड़कर अपनी आजादी प्राप्त कर ली।

उन्नीसवीं शताब्दी में मुक्ति की अवधारणा का विकास होता गया। और सभी देशों में आंतरिक मुक्ति के प्रयास भी बढ़ते गए। यूरोप में 1830 और 1848 ई. में कई देशों में राजनीतिक अधिकारों के लिए क्रांतियां की गईं।

इस दौरान राजनीतिक मुक्ति के लिए आर्थिक मुक्ति को अनिवार्य करार देने वाली विचारधारा **समाजवाद** का भी विकास होता रहा। एक सामाजिक विचारक प्रूधों ने घोषणा कर दी 'संपत्ति चोरी है।'

इसे हम भारत के संदर्भ से **ठीक** से समझ सकते हैं। भारत एक विडम्बनाओं का देश है। यहां वैयक्तिक मुक्ति की धारणा विविध रूपों में प्राचीन काल से ही चर्चा और व्यवहार में रही है। पर दूसरी ओर दासता के विविध रूप समाज को लगातार जकड़े रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में विविध कारणों से एक मध्य वर्ग विकसित हुआ जो भविष्योन्मुख था और अपनी महत्वकांक्षाओं के लिए नियतिवाद से टकराने का प्रयास करने लगा। वह यूरोप के मध्य वर्ग की तरह उद्यमी और क्रांतिकारी नहीं था। फिर भी उसने हाथ–पैर चलाना शुरू किया और भारत में भी राष्ट्रवाद की कोपलें पनपने लगीं।

1857 के विद्रोह में विदेशी सत्ता से मुक्ति का एक बड़ा प्रयास हुआ। इस महाविद्रोह को तो कुचल दिया गया पर समय की मांग के रूप में विकसित हो रहे राष्ट्रवाद को कुचला नहीं जा सका। बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग के साथ आम जनता भी शामिल होने लगी। मध्य वर्गीय आंदोलन को जन आंदोलन बनाने में **गांधी** की सबसे बड़ी भूमिका थी। इस दौरान किसान–मजदूर–दलित–नारियां आदि अपनी विशेष वंचनाओं के कारण अलग से भी संगठित होते रहे। उपर्युक्त समुदायों के अपनी–अपनी अस्मिता के आंदोलन नकारात्मक नहीं हो पाए। पर इसी प्रयास में मुस्लिम अल्पसंख्यकों का आंदोलन नकारात्मक राह पर चल पड़ा। ब्रिटिश शासक 'बांटो और राज करो' की नीति में सफल हो गए थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच निकटता–दुराव की द्वैधता का इस्तेमाल करने में सफल हो गए थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग से संगठन बनाने के लिए प्रोत्साहित किया था। हिन्दू महासभा को तो हिन्दुओं का भारी समर्थन कभी नहीं मिल पाया पर कांग्रेसी नेताओं की ही चूकों और

गलतियों के कारण मुस्लिम लीग का समर्थन बढ़ता गया। बाद में उसे कांग्रेस के नेतृत्व से असंतुष्ट **मोहम्मद अली जिन्ना** जैसे कुशल नेता का नेतृत्व भी मिल गया और वह कांग्रेस की प्रतिद्वंद्वी बन गई।

दुनिया के सबसे बड़े राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की अदूरर्शिता और कमजोरियों के कारण राष्ट्रीय मुक्ति का समन्वित प्रयास अंदर से टूटता–बिखरता रहा और 1947 में ही यह उजागर हो गया कि भारत पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है। एक तो आजादी के मिलने के एक दिन पहले ही भारत का विभाजन हो गया दूसरे, किसान मजदूरों का संघर्ष अपनी मुक्ति के लिए जारी रहा।

1950 में भारत में दुनिया का सबसे बड़ा लिखित संविधान लागू कर दिया गया। इसने सभी की राजनैतिक आजादी पर मोहर लगा दी। भारत ने विकास की अपनी राह चुनी और आज वह दुनिया में सबसे तेजी से विकास करने वाले देशों में गिना जाता है। पर वास्तविकता यह है कि यह भी कहा जाने लगा है कि भारत एक धनी देश है जहां की जनता गरीब है, भारत दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है पर भारत की जनता तरह–तरह के बंधनों से ग्रस्त है। इस तरह यह भारत में ही साफ–साफ देखा जा सकता है कि मुक्ति अविभाज्य है और राजनीतिक आजादी अकेले केवल कुछ लोगों को ही लाभ पहुंचा सकती है।

आज दुनिया में प्रत्यक्ष राजनीतिक दासता बहुत थोड़े से क्षेत्रों में ही शेष होगी। पर राजनीतिक मुक्ति का इस्तेमाल करने की सामर्थ्य आज भी दुनिया की अधिकांश आबादी में नहीं है। कहीं गरीबी तो कहीं अज्ञान तो कहीं शासकों द्वारा समय–समय पर लगाए जाने वाले बंधन–जैसे भारत में, राजनीतिक मुक्ति की सीमाओं को चिन्हित करते हैं। राजनीतिक मुक्ति की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति मानवाधिकार का भारी पैमाने पर उलंघन होता रहता है। इसलिए यह स्पष्ट होता जा रहा है कि राजनीतिक मुक्ति भी तभी पूरी तरह फलीभूत हो सकती है जब समस्त मानव समाज को सांस्कृतिक मुक्ति भी मिल जाएगी।

– – –

3

पितृसत्ता से मुक्ति

नारी दुनिया का पहला और अंतिम उपनिवेश है। इसका मतलब यह हुआ कि मानव इतिहास में सत्ता की विकृति का पहला स्वरूप पितृसत्ता के रूप में स्थापित हुआ होगा और नारी दासता की पहली शिकार बनी होगी। ऐसा लगता है सभी तरह की सत्ताओं के विकेंद्रीकरण के बाद ही पितृसत्ता का अंत होगा और नारी बाहर के सभी बंधनों से मुक्ति पाते–पाते अंत में ही घर की पितृसत्ता से मुक्त होगी। तभी वास्तव में सभी मुक्त हो सकेंगे।

वैसे यह तो स्वाभाविक लगता है कि मानव की विकास यात्रा में प्रारंभिक दौर में नारी की प्रधानता रही होगी क्यों कि सबंधों की शुरूआत तो मातृत्व से ही होती है। किसी भी जीव की तरह मनुष्य जानता तो सबसे पहले मां को ही है। इसलिए देवत्व की जब मनुष्य ने कल्पना की तो देवी ही पहले गढ़ी गई। पर स्वामी बनते ही सबसे पहले पुरुष नारी का स्वामी बन गया। फिर तो स्वामित्व का विस्तार होता गया और मुनष्य धरती का दूसरे मनुष्यों का और तरह–तरह की संपत्तियों का स्वामी बनता ही गया।

नारी का स्वामी बनने में एक विडंबना और असमंजस भी आड़े आता रहा है। एक ओर स्वामित्व का सबसे अंतरंग सुख तो नारी ही दे सकती है क्योंकि जीवन के सबसे अंतरंग पलों में भी वही पुरुष के अहम् और अहंकार की तृप्ति कर सकती है, तो दूसरी ओर, पुरुष की नारी पर निर्भरता भी अत्यंत अंतरंग है। वह नारी की कोख में जन्म लेता है, पलता है और उसी की गोद में उसकी चेतना का विकास होता है। इसिलए वह उसकी ममता को नकार भी नहीं सकता और उसे दमित रखने के सुख से भी अपने को वंचित नहीं कर पाता। इसीलिए वह उसका गौरवगान भी करता है और उसे भोगता भी है।

यह विडंबना प्राचीन काल के प्राकृतिक जीवन से आज के सभ्य जीवन तक बरकरार है। आज दुनिया को अधिकांशतः जनतंत्र स्वीकार्य होते जाने के बावजूद नारी पर सहज स्वामित्व का भाव बना हुआ है और नारी को अपनी मुक्ति का संघर्ष जारी रखना पड़ रहा है।

प्राचीन काल में ही धर्म, दर्शन, नीति–शास्त्र, साहित्य, मर्यादा, मान्यता, आचार–व्यवहार हर स्तर पर नारी को अबला, निर्भर और द्वितीयक स्थापित कर दिया गया। नारी की

पति–परायणता और मातृत्व को आदर्श की तरह स्थापित कर दिया गया। इसके बोझ तले वह हजारों साल तक पीड़ा का सुख (मैसोचिस्म) भोगती रहीं है। पर बोझ तो बोझ होता है और मुक्ति तो जीवन का लक्षण है। जहां जीवन है वहां मुक्ति की कामना होगी ही।

सूजी थामस और **के. ललिता** नामक दो आज की विदुषियों ने ढूंढ निकाला है, प्राचीन काल से ही नारी लेखिकाओं की मुक्ति कामना की अभिव्यक्तियों को (विमेन राइटिंग इंडिया)। आप भी देखिए एक दो उदाहरण। हजार साल पहले सनातन धर्म में व्याप्त पितृसत्ता से मुक्ति की खोज में कुछ महिलाएं भिक्खुनी हो कर बौद्धधर्म की अनुयायी हो गईं। घर–परिवार से मुक्त एक भिक्खुनी ने लिखा:

कितनी आजाद हूं मैं! कितनी अनोखी है आजादी!
तीन तुच्छ वस्तु से मुक्त
ओखली, मूसल और मालिक से
पुनर्जन्म और मृत्यु से मुक्त हूं मैं
जिन चीजों ने दबा रखा था मुझे
उन्हें दूर फेंक दिया है मैंने।

ऐसी अभिव्यक्तियां दक्षिण भारत के इतिहास के बेमिसाल स्रोत 'संगम' साहित्य में भी मिलता है। दो हजार साल से भी पहले तमिल भाषा में गुस्से और बदले की भावना घुमड़ी पड़ रही थी।

क्या करूं मैं इनका– हमला करूं? मारूं?
किसी न किसी बहाने जगांऊ इस सोते शहर को?
कोई नहीं जानता मेरी पीड़ा सिवाय हवा के
जो मेरे इर्द–गिर्द घूमती है।

हमारे धार्मिक ग्रंथ, मिथक, पुराण और रामायण–महाभारत, जिन्हें महाकाव्य भी कहा जाता है, औरतों पर हो रहे अत्याचार पर लाख पर्दा डालने की कोशिशों के बावजूद उनकी चीख और आक्रोश की अनुगूंज से भरे पड़े हैं। एक ही उदाहरण काफी है: **द्रौपदी** को उनके पति युधिष्ठिर उन्हें जुए में हार गए हैं तो वह चीखती है: 'क्या उन्हें अधिकार था मुझे दांव पर लगाने जब वह स्वयं अपने को हार कर दास बन चुके थे?' पति परायण सीता भी राम के पाखंड को नंगा करने में तनिक नहीं हिचकती।

सनातन धर्म के सवर्ण पुरुष संचालकों की षणयंत्रात्मक चालाकी का एक असाधारण उदाहरण है विद्रोहों का आध्यात्मीकरण और दैवीकरण। गौतम बुद्ध के विद्रोह को गौतम को भी अवतार साबित कर, आत्मसात कर लिया गया। वृन्दावन की नारियों का राधा के नेतृत्व में और कृष्ण के समर्थन से चल पड़ा विद्रोह तो मानव इतिहास में

असाधारण है। इसका बस आध्यात्मिक रूपांतरण किया जा सकता था और वही हुआ। **राधा–कृष्ण** की रासलीला आनंद के उत्कर्ष के रूप में सामान्य मानव के लिए अप्राप्य और दैवी करार दी गई। पर **मीरा** ने इस प्रतीक के मर्म को हजारो साल बाद दोहराया और आज के नारी आंदोलन में द्रौपदी, राधा और मीरा जैसे नारियों को ऊर्जा के स्रोत के रूप में चित्रित किया जा रहा है।

नारी मुक्ति का मुद्दा सबसे विडंबनापूर्ण रूप में यूरोप में ही उजागर हुआ है। वहीं आधुनिकता की शुरुआत मानी जाती है। वहीं पुनर्जागरण, धर्म–सुधार, ज्ञानोदय (प्रबोधन) और क्रांति के दौर आए और वहीं आधुनिक जनतंत्र की नींव पड़ी। वहीं स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारों के साथ एक नई व्यवस्था की स्थापना के लिए फ्रांस में क्रांति हुई और मानव तथा नागरिक के अधिकारों की घोषणा हुई। लेकिन वहीं आधुनिक जनतंत्र का पाखंड भी उजागर हुआ।

जब मानव अधिकारों की घोषणा हुई तो फ्रांस में ही **ओलिंप द गूल** ने सवाल उठा दिया कि मानव में नारी भी शामिल है। उसने नारी के अधिकारों की अलग से घोषणा की। परन्तु असर कुछ नहीं हुआ। क्रांतिकारी फ्रांस में नारी को मताधिकार बीसवीं सदी के मध्य में ही मिल सका।

फ्रांसीसी क्रांति और औद्योगिक क्रांति के बाद पूंजीवाद मजबूत होता चला गया और उसी की जरूरत के लिए जनतंत्र का विस्तार आवश्यक होता गया। इसलिए उन्नसवीं सदी में ही संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप में नारियों में चेतना का विस्तार होता गया। भारत में उसी समय नारी शिक्षा, सती प्रथा के अंत और विधवा विवाह आदि के सुधार आंदोलन शुरू हो गए थे।

वास्तव में नारी मुक्ति की हवा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तेज हुई। युद्ध की आवश्यकताओं ने ही नारी को घर की चार दीवारी से बाहर लाने को मजबूर कर दिया था। युद्ध के दौरान औरतों को बहुत से ऐसे काम करने पड़े थे जो पारंपरिक रूप से वह नहीं करती थी। उन्हें तरह–तरह की नौकरियां करने के लिए घर के बंधन ढीले करने पड़े। उनके रहन–सहन में ही परिवर्तन आया जैसे सदियों से ढीले गाउनों और लंबे बालों का बोझ ढोने वाली औरतों के छोटे बालों और चुस्त कपड़ों को स्वीकार करना पड़ा।

इसी दौर में नारीवाद (फेमिनिज्म) एक आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। इसमें वैचारिक हस्तक्षेप की बहुत निर्णायक भूमिका है। **केट मिलेट** और **सीमोन द बोवुआर** ने अपनी व्याख्याओं से पितृ–सत्ता की धज्जी उड़ा दी। इसके पीछे इतिहास, समाजशास्त्र और नृशास्त्र में हुए खोजों ने उजागर कर दिया था कि कैसे सहज मातृ–प्रधानता की जगह पुरूष सत्ता स्थापित हुई थी और पितृ–सत्ता के पारिवारिक ही नहीं–आर्थिक, राजनीतिक

और सांस्कृतिक आयाम थे। सीमोन की दलील कि **औरत पैदा नहीं होती बनाई जाती** है पढ़ी लिखी और संवेदनशील महिलाओं के बीच खलबली मचा चुकी थी।

भारत में भी सुधार आंदोलन में नारियों ने उन्नीसवीं सदी में ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी थी पर वास्तव में घर की कैद से वे बाहर निकलीं असहयोग आंदोलन के दौरान। इसी दौरान यह विडंबना भी उजागर हुई कि वे विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए तो आवाज उठा सकती हैं परन्तु अभी घर की पितृसत्ता के विरूद्व आवाज उठाने का आत्मविश्वास और चेतना नहीं विकसित हुई है। (यह पिछड़ापन एक हद तक आज भी तो जारी ही है।)

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में धीरे–धीरे समाज के सभी समुदाय अपने–अपने हितों की रक्षा के लिए अपनी–अपनी तरह से शामिल होते गए थे। दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के महाविध्वंस ने सत्ता समीकरण बदल डाले थे। पूंजी का चरित्र एकदम बदल गया था। अब देशों और व्यक्तियों को सीधे से दास बना कर रखना जरूरी नहीं रह गया था। इसलिए राजनीतिक आजादी मिलते ही भारतीय संविधान में सभी को राजनीतिक आजादी दे दी गई। नारियां भी नागरिक हो गईं। परन्तु यह आजादी अनिवार्य तो थी पर थी बस पहली पायदान–आर्थिक आजादी तो देश को ही नहीं मिल पाई तो नारी को कैसे मिलती? जनवाद जब संसद में ही नहीं आया तो घर में कैसे आता? कुल मिलाकर पिछले 60–70 वर्षों के दौरान भारत में नई आजादी का नया संघर्ष धीरे–धीरे विकसित हो रहा है। वही नारीवादी आंदोलन का भी चरित्र बदलेगा।

आज भी नारी मुक्ति यानी पित्तृ–सत्ता से मुक्ति मुख्यतः एक मध्य वगीर्य, शिक्षित और नागर महिलाओं का मुद्दा है। आज भी नारी मुक्ति मुख्यतः नारियों का मसला है। पर जब किसी एक की मुक्ति दूसरे की भी मुक्ति से अविभाज्य रूप से जुड़ी हो तो नारी मुक्ति को भी मानव मुक्ति के महासंग्राम के एक मोर्चे के ही रूप में देखने से ही समस्या पूरी तरह समझ में आएगी और इसी रूप में हल भी होगी। आज नारी मुक्ति की ढेरों, व्याख्याएं और कार्यक्रम हैं पर धीरे–धीरे समस्याओं को समग्रता में देखने की अनिवार्यता उजागर होती जा रही है।

– – –

4
राजसत्ता से मुक्ति

उन्नीसवीं सदी में ही जब राज्य सत्ता का औचित्य और अनिवार्यता पूरी तरह स्थापित हो चुका था, कुछ विचारकों ने राज्य को मानव की मुक्ति में सबसे बड़ा रोड़ा मानना शुरू कर दिया था। मार्क्स ने साफ कह दिया था कि राज्य सबके हित का पोषण नहीं कर सकता। वह किसी एक वर्ग के हितों का ही पोषण कर सकता है जैसे ब्रिटेन में रक्तहीन क्रांति और फ्रांस में पूंजीवादी क्रांति के पहले सामंती हितों का पोषण करता था। फिर इंगलैण्ड, फ्रांस, नीदरलैण्ड आदि में पूंजीवादी राज्य की स्थापना हुई और वहां मुख्यतः पूंजीपतियों के हितों का पोषण होता रहा। मार्क्स ने यह तो मान लिया था कि राज्य एक उत्पीड़क संस्था है क्योंकि एक वर्ग के हित साधन के लिए अन्यों का शोषण उत्पीड़न करना ही पड़ेगा। बूर्जुआ राज्य चूंकि अन्य राज्यों के लिए उत्पीड़क है इसलिए वहां बूजफ्रआजी की तानाशाही होती है अन्य वर्गों के लिए, जब कि वह बूजफ्रआजी के लिए जनतंत्र होता है। इसीलिए सर्वाहारा के हाथ में जब सत्ता आएगी (क्रांति के बाद) तो नए सर्वहारा राज्य सर्वहारा के लिए जनतंत्र और पूंजीपतियों के लिए सर्वहारा की तानाशही होगी। इस नए राज्य के माध्यम से ही बूजुआजी का अंत करने के बाद वर्ग संघर्ष खत्म होगा और तभी राज्य का अवसान शुरू होगा और राज्य फूल की तरह कुम्हलाते–कुम्हलाते एक दिन झड़ जाएगा यानी उसका अंत हो जाएगा।

इतिहास गवाह है राज्य के माध्यम से राज्य का अंत नहीं हो सकता। सोवियत यूनियन में सर्वहारा की तानाशाही कायम हुई जो सर्वहारा यानी समाज के एक वर्ग की तानाशाही बनी अन्य वर्गों के लिए। फिर सर्वहारा के नाम पर एक पार्टी (सर्वहारा की पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी) की तानाशाही पार्टी के नाम पर नेतृत्व की ओर अंततः पोलियन ब्यूरों और एक नेता की तानाशाही कामय हुई। राज्य पूंजीवादी राज्य की ही तरह बल्कि उससे भी अधिक शक्तिशाली और उत्पीड़क बन गया और मार्क्स का सारा विश्लेषण और सदिच्छा गलत साबित कर दिए गए'।

विचारों की एक धारा रही है जो केंद्रीकरण को खतरनाक समझती रही है। पर सबसे स्पष्ट रूप से जो लोग राज्य के विघटन की बात करते रहे हैं उन्हें हिन्दी में

अराजकतावादी कहा जाता रहा है। अंग्रेजी में उन्हें अनाक्रिस्ट कहा जाता है। यह बात क्रोपोतकिन नामक रूसी विचारक की प्रचलित सूक्ति के रूप में सारे संसार में स्थापित है– **सत्ता भ्रष्ट करती है और निरपेक्ष सत्ता पूरी तरह भ्रष्ट करती देती है (पावर करप्ट्स ऐंड अबसल्यूट पावर करप्ट्स** अब्सोल्यूटली)। दुनिया में निरपेक्ष सत्ता राज्य की ही होती है इसलिए वही दुनिया की जब सबसे भ्रष्ट संस्था है। इसलिए उसका अंत तो सर्वस्वीकृत होना चाहिए।

मानव ने अपने इतिहास में सबसे शक्तिशाली संस्था राज्य ही निर्मित की है और यही राज्य मानव को नियंत्रित करता रहा है–यहां तक कि अब एक आततायी संस्था के रूप में कुछ मानवों के हित के लिए मानव जाति के हित को नजर अंदाज करता है। एक प्रकार से वह भस्मासुर बनता जा रहा है– मानव जाति को ही भस्म करने पर आमादा।

इसे हम अपने खोजी सवालों के माध्यम से समझें–राज्य क्या–क्यों–कैसे?

राज्य आज दुनिया की सबसे शक्तिशाली संस्था है–एममात्र सार्वभौम संस्था है। ईश्वर से भी अधिक शक्तिशाली राज्य के लिए जरूरी है एक क्षेत्र जहां वह स्थिति हो, एक जनसंख्या जिसे वह संचालित करे, एक सरकार जिसमें वह मूर्त हो और सबसे बड़ी प्राणशक्ति सार्वभौमिकता जिसके बिना उसका अस्तित्व नहीं हो सकता–उदाहरण के लिए 1947 के पहले भारत राज्य नहीं था, क्योंकि उसकी सार्वभौमिकता ब्रिटेन में निहित थी। वह एक पराधीन देश था। सार्वभौमिकता इतिहास में विकसित ऐसी शक्ति है जिसे माना जाता है कि व्यक्तियों ने अपने ही हित में एक सामुदायिक सत्ता को सौंप दी है। यह तब स्पष्ट हो जाएगा जब हम समझ लेंगे कि राज्य कैसे अस्तित्व में आया।

पहले राजा आया फिर राज्य। पहले सगुण आया फिर निर्गुण, पहले मूर्त फिर अमूर्त। मानव समाज के प्रारंभिक दौर में समुदाय को नेतृत्व देने के लिए 'मुखिया' और 'अगुआ' जैसे लोग विकसित हुए होंगे–जो धीरे–धीरे कर्मणा से जन्मना बन गए होंगे–जैसे बाद में वर्ण कर्मणा से जन्मना बन गए। फिर समुदाय बड़े होने लगे तब मुखियों के बीच भी टकराहटें दूर करने के लिए राजा विकसित हुए होंगे। यह कहना मुश्किल है कि राज्य की तरह ईश्वर की धारणा विकसित हुई या इसका उल्टा ईश्वर की छवि में राजा। यह अधिक उपयुक्त लगता है कि जैसे इस धरती पर राजा वैसे ही सृष्टि का ईश्वर। यह ईश्वर या परम सत्ता के देवी–देवताओं के रूप में अस्तित्व में आई फिर सभी सभ्यताओं का नियंता एक परम सत्ता–परमेश्वर यानी सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञाता सत्ता की धारणा विकसित हुई जो सर्व नियंत्रक की तरह प्रस्तुत

होने लगा। उसे अपने भक्तों का कल्याण कर्ता और कुपात्रों को दंड देने वाला भी सिद्ध किया जाने लगा। तब तक पुरस्कार और दंड का महत्व समझ में आ गया था इसलिए पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग और दंड स्वरूप नर्क की कल्पना को सींचा–पोसा गया।

उसी परम नियंत्रता की छवि में राज्य की कल्पना की गई। शुरू में उस राज्य को भी दैवी कृति माना गया और राजा को उस निराकार की साकार प्रतिमूर्ति कहा गया।

धीरे–धीरे मानवता जवान हो रही थी। अब उसे थाली में चांद दिखाकर भुलावा नहीं दिया जा सकता था। इसलिए आधुनिक काल के प्रारंभ में ही राज्य के जन्म के लिए संविदा का सिद्धांत विकसित किया गया ताकि मनुष्य राज्य को अपनी निर्मिति समझे और राज्य आधुनिक मानव के सामने एक वैध संस्था बन जाय।

हॉब्स और **लॉक** ने इंगलैंड में और **रूसो** ने फ्रांस में सामाजिक संविदा का सिद्धांत प्रतिपादित किया। तीनों में एक प्राकृतिक अवस्था की कल्पना थी। वह अवस्था अलग–अलग विचारक के लिए अलग–अलग तरह की थी पर तीनों ही स्थितियों में समाज को सुरक्षित रखते हुए दिशा निर्देश के लिए एक संस्था की जरूरत महसूस की गई और लोगों ने एक समझौता किया और एक राज्य का जन्म हुआ। तीनों ने अपने देशकाल के अनुसार समझौते की धारणा की यानी राज्य के जन्म की, अलग–अलग व्याख्याएं की। अब तरह–तरह के राज्यों के पक्ष में दलीलें आने लगीं। वास्तव में ये सरकारों के स्वरूप की या अवधारणा की वकालत करती थीं। कोई प्रबुद्ध निरंकुशता यानी परिवार से प्रेम करने वाले निरंकुश पिता जैसे राज्य की अवधारणा प्रस्तुत कर रहा था तो कोई एकदम निरंकुश राज्य की। ऐसे में ही इतिहास में दर्ज राजनीतिक संस्थाओं से भिन्न एक 'यूटोपिया' की भी बात उठने लगी थी।

ऐसे हालात में ही राज्यविहीन, समाज की भी बात शुरू हुई और **'अनार्किस्टों'** ने यानी अराज्यवादियों ने (इनके लिए हिन्दी में अराजकतावादी शब्द के इस्तेमाल को मैं अनुपयुक्त मानता हूं।) एक ऐसे समाज की बात रखी जो राज्य विहीन थे। शुरू में क्रोपोतकिन ने इस विचार को पोसा फिर दूसरे विचारक जैसे **बाकूनिन** आदि ने भी इसे आगे बढ़ाया। शुरू में **मार्क्स** ने भी इस विचार में दिलचस्पी दिखाई और अंत तक समाजवादी समाज का लक्ष्य यही रखा कि राज्य का अंत आवश्यक है। मार्क्स के अनुसार समाजवादी क्रांति राज्य सत्ता पर कब्जा करके ही पूरी होगी। समाजवादी क्रांति के दौरान राज्य सत्ता पर सर्वहारा का कब्जा होगा और सर्वहारा की तानाशाही के अंतर्गत ही समाजवादी क्रांति पूरी होगी। इस दौरान राज्य का फूल कुम्हलाता हुआ अंत में झड़ जाएगा। यानी राज्य जो वर्ग सत्ता का मूर्त रूप है वर्ग संघर्ष समाप्त होते ही अनावश्यक हो जाएगा।

पर हुआ इसका ठीक उल्टा सोवियत यूनियन में भी राज्य धीरे–धीरे मजबूत होता गया और अंततोगत्वा पूंजीवादी राज्य से भी अधिक निरंकुश हो गया।

चीन की क्रांति के बाद भी राज्य मजबूत ही होता गया है। यही हाल क्यूबा और उत्तरी कोरिया का भी है। इसका मतलब यह हुआ कि जहां–जहां समाजवादी प्रयोग करने का दावा किया गया है वहां–वहां राज्य का नियंत्रण बढ़ता गया है। इस तरह यह साबित होता गया है कि समाजवाद के निर्माण का दावा करने के दौरान भी शासक वर्ग राज्य को ही अपना उपकरण बनाता है और आम जनता के लिए राज्य एक आततायी संस्था साबित होता है।

दूसरी ओर, अपने को जनतंत्र कहने वाले देशों में भी राज्य की शक्ति अपार है। दुनिया का सबसे पुराना आधुनिक जनतंत्र कहे जाने वाले ब्रिटेन में इस तरह की परंपराएं विकसित हुई हैं कि राज्य आततायी न होने पाए। वहां तो महायुद्धों के दौरान भी आपातकाल जैसी स्थितियां नहीं लागू होतीं। फिर भी वास्तविकता यह है कि उसके जन–कल्याणकारी चरित्र के बावजूद राज्य 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' को चरितार्थ नहीं कर पाता। 'पूंजीवाद का स्वर्ग' कहे जाने वाले स्कैनडेनेवियन देशों– नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और फिनलैंड, में राज्य नागरिक के जीवन में कमतम हस्तक्षेप करता है फिर भी राज्य की उपस्थिति मात्र सत्ता का केन्द्रीकरण जारी रखती है।

ऐसे में उपाय क्या हैं?– मानव सभ्यता का इतिहास यह बताता है कि जब से राज्य सत्ता का विकास हुआ उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आती गई। इसलिए यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि जैसे **हर पुरुष में पितृसत्तावादी प्रवृत्ति होती है वैसे ही हर राज्य में फासीवादी प्रवृत्ति होती है।** इसलिए समाज में वास्तविक जनवाद की स्थापना के लिए जरूरी है कि आर्थिक–राजनीतिक–सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन किए जाएं। ऐसे परिवर्तन की राह में सबसे बड़ा रोड़ा राज्य ही साबित हुआ है। इसलिए समाज में हर तरह का विकेन्द्रीकरण और व्यक्तियों तथा विविध संस्थाओं की वास्तविक स्वायत्तता को एकमात्र उपाय समझ कर उस दिशा में क्रमशः बढ़ते जाना एकमात्र उपाय लगता है।

– – –

5

पूंजीवाद से मुक्ति

कभी सोचा आपने कि आज मानव समाज को जकड़ने वाली जंजीर कौन सी है जिसने मनुष्य के मानो रोम–रोम को, उसके शरीर, मन और चित्त को जकड़ रखा है? निश्चित ही वह अनगिनत कड़ियों वाली जंजीर है पूंजीवाद– पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, उसे ही मजबूत करने वाला पूंजीवादी राजनीतिक तंत्र और उसी का पोषण करने वाली सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था।

मानव विरोधी किन्तु मानव द्वारा ही निर्मित इस दुष्चक्र को आइए समझ लिया जाय। धरती पर जब मानव समाज विकसित हुआ उसके पहले सब कुछ प्राकृतिक रूप से होता था। जो भी होता था उसमें पहली बार परिवर्तनकारी हस्तक्षेप मनुष्य जाति ने ही किया। उसने ही संपत्ति, निजी संपत्ति, सभ्यता, संस्कृति, अर्थ व्यवस्था, राजनीतिक तंत्र आदि विकसित किया। उसी ने मुक्ति की धारणा बनायी, क्योंकि उसी ने दासता भी रची थी। प्रकृति में कोई और दास नहीं होता–मनुष्य ही दास बनाता–होता है और वही दासता से मुक्ति के उपाय करता है।

पहली बार मनुष्य ने मनुष्य को दास बनाया, स्वामित्व की जंजीर गढ़ कर। स्वामित्व को अपना या निजी बनाए रखने का सिलसिला भूमि से शुरू हुआ और बढ़ता ही चला गया। आज दुनिया जैसी बन गई है उसमें जो मनुष्य स्वामी नहीं है वह स्वामी बनना चाहता है और जो है वह अपना मालिकाना बनाए रखना चाहता है। किसी न किसी तरह उसे बढ़ाते जाना चाहता है। अब इसी चक्कर में लोग कुछ भी करना चाहते हैं। पर सब लोग तो इस लालच को पूरा नहीं कर पाते। पर वे लोग तो कर सकते हैं जो कुछ पैदा करवाते हैं, जैसे वे लोग जो बेचने के लिए सामान का उत्पादन करते हैं। अगर किसी सामान के उत्पादन में लगे खर्चे से बेचने के दाम को बहुत बढ़ा दिया जाय तो काफी धन कमाया जा सकता है। उदाहरण के लिए लोहार कुदाल बनाता था तो मान लीजिए वह एक रुपए का लोहा खरीदता था। उस लोहे को तपा कर कुदाल बनाने में एक रुपया और खर्च हुआ। तो वह अपनी मेहनत का एक रुपया लगा कर कुदाल तीन रुपए में बेचता था। जब कुदाल बनाने की फैक्ट्री लग गई तो फैक्ट्री का मालिक उसी कुदाल को पांच रुपए में बेचने लगा। उन्नीसवीं सदी में मार्क्स

नामक जर्मन विचारक ने इस दो रुपए को मुनाफा (सरप्लस वैल्यू) कहा। उसके अनुसार उत्पादन जब मुनाफे के लिए होने लगा तभी पूंजीवाद आया क्योंकि धन मुनाफा कमाने लगा। ऐसे धन को पूंजी कहा जाने लगा जो और अधिक धन कमाने का माध्यम बने। जमीन में गड़े हुए धन को पूंजी नहीं कहते। मनुष्य की लालच को बढ़ाने वाले धन के पूंजी में रूपान्तरित होने से पूंजीवाद का जन्म हुआ।

पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी के दौरान पूंजीवाद का विकास हुआ। अब उत्पादन प्रणाली में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उत्पादन में वास्तव में लगे लोग मजदूर बन गए जो मजदूरी के लिए काम करते थे। उन्हें वे जितनी मेहनत करते थे उसके बराबर मजदूरी नहीं मिलती थी। उन्हें मनमाना मजदूरी देकर, जिससे वह बस जिन्दा रह सकें, शेष मालिक हड़प जाता था। इसे ही शोषण कहा गया है। मजदूर इस लूट के खिलाफ अगर आवाज उठाए तो उसका उत्पीड़न और दमन किया जाता रहा है।

पूंजीवादी व्यवस्था का विस्तार होता गया और समाज में भारी परिवर्तन होने लगे। गाँव उजड़ने लगे और शहर बढ़ने लगे।

पूंजी मजदूर की मेहनत की लूट से ही पनपती है। इसलिए मजदूरों का शोषण–दमन–उत्पीड़न बढ़ता ही गया। नर–नारी, बच्चे–बूढ़े सभी फैक्टरियों में काम करते, बारह–बाहर घंटे, कभी–कभी उससे भी ज्यादा, और उन्हें कोई सुविधा नहीं दी जाती। बीमार पड़ने पर वो भूखों मरते, क्योंकि दिहाड़ी काम के हिसाब से दी जाती। दुर्घटना का कोई मुआवजा नहीं होता था।

पूंजीवाद ने पहले एक देश–व्यापी बाजार बनाया। पर उत्पादन बढ़ रहा था तो माल बेचने के लिए अधिक बाजार चाहिए थे। इसलिए पूंजीवाद के जड़ जमाते ही उपनिवेशों की जरूरत पड़ी जहां से कच्चा माल लाया जा सकता और जहां बना हुआ माल मनमाने दाम पर बेचा जा सकता था। इसी जरूरत के लिए अमरीकी महाद्वीपों में फिर अफ्रीका और एशिया में उपनिवेश बनाए गए।

पूंजीवाद के लिए उपनिवेशों का शोषण खाद का काम करता था। तभी तो इतिहासकार कहते हैं कि ब्रिटेन में लंकाशायर की मिलें भारत के खून पसीने से चलती थीं।

भूख–प्यास की तो सीमा है। पर लालच भ्रष्टकारी माना गया है। बाइबिल में तो कहा गया है कि **'ऊंट सूई की छेद से गुजर सकता है पर एक धनी व्यक्ति स्वर्ग नहीं जा सकता।'** पर स्वयं धार्मिक संस्थाएं धन कमाने लगीं क्योंकि लालच से बचना बहुत कठिन है। अंग्रेजी लेखक **ऑस्कर वाइल्ड** ने क्या खूब कहा है– **मैं हर चीज का प्रतिकार कर सकता हूं पर लालच का नहीं**– (आइ कैन रेजिस्ट

एनीथिंग बट टेम्पटेशन) सबसे बड़े पूंजीवादी देशों, इंगलैंड और फ्रांस, में साहित्य में पूंजीवादी पात्रों की आलोचना होने लगी। शेक्सपीयर (इंगलैंड) और मोलिए तथा बाल्जाक (फ्रांस) के साहित्य में पूंजीवाद के कारण बढ़ती समस्याएं और नैतिक पतन परिलक्षित होने लगे।

पूंजीवाद ने दो सौ वर्षों के विस्तार के दौरान आर्थिक शक्ति तो जुटा ली थी। अब राजा भी पूंजीपतियों के कर्जदार होने लगे थे। पर खुल कर खेलने के लिए, मनमाना आर्थिक विस्तार करने के लिए, राजनीतिक सत्ता भी चाहिए थी। इंगलैंड में पार्लियामेंट में पूंजीपतियों ने अपना प्रभाव बढ़ा कर राजा को कमजोर करना शुरू कर दिया था। इसलिए वहां पूंजीवाद का सबसे तेजी से विस्तार हो रहा था। फ्रांस में राजा इतना निरंकुश होता था कि कहता था **'मैं ही राज्य हूं'**। ऐसे में पूंजीवादी विकास बाधित होता था क्योंकि पूंजीवाद के फूलने–फलने के लिए एक हद तक जनतंत्र आवश्यक है। इसलिए फ्रांस में पूंजवादी विस्फोट हुआ और फ्रांस की क्रांति (1789 ई.) के बाद पूंजीपतियों के हाथ में राजनीतिक सत्ता भी आ गई। अब तो यूरोप और उपनिवेशों में हर तरह से पूंजीवाद फूलने–फलने लगा।

पर इस दौरान पूंजीवाद के दुष्परिणामों का सबसे अधिक शिकार मजदूर वर्ग भी संगठित होने लगा। दूसरे वर्गों के भी संवेदनशील लोग उसकी आवाज बनने लगे। पूंजीवादी शोषण से बचने के लिए उन्नीसवीं सदी में तरह–तरह के उपायों पर बातें होने लगीं। इंगलैंड में **राबर्ट ऑवेन** ने अपनी फैक्टरियों में सहकारी प्रयोग किया। फ्रांस में **लूई ब्लां, सैंसीमों** और **प्रूधों** ने पूंजीवाद का विकल्प समाजवाद को निरूपित किया। प्रूधों ने तो यहां तक कह दिया कि **'संपत्ति चोरी है।'**

समाजवाद की ये विचारधाराएं पूंजीवाद की आलोचना थीं और उसे बदलने की सदिच्छाएं। पर यह तो हो ही रहा था कि पूंजीवादी देशों में मजदूर अलग–अलग ढंग से संगठित हो रहे थे और पूंजीवादी शिकंजे से मुक्त होने का प्रयास कर रहे थे। मजदूरों का एक संगठन था 'कम्युनिस्ट लीग' उसने अपने संगठन का 'घोषणा–पत्र' तैयार करने की जिम्मेदारी दो नौजवानों, मार्क्स और एंगेल्स, को दी। उन्होंने 1848 ई. में एक पुस्तिका लिखी: **द कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो**। इस पुस्तिका में केवल सामाजिक विकास का विश्लेषण नहीं था। इसमें पूंजीवाद के अंत का कार्यक्रम भी था। इसीलिए कहा गया है कि यह **'वैज्ञानिक समाजवाद'** का प्रारम्भ था। बाद में मार्क्स ने जर्मन भाषा में 'डास कापीटाल' (पूंजी) लिखा जिसमें पूंजी का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया था।

अब मजदूर अपनी वंचना का ऐतिहासिक कारण समझ सकते थे और उससे मुक

होने का एक वैज्ञानिक कार्यक्रम बना सकते थे। हालांकि 1848 में कई देशों में क्रांतियां हुईं और मजदूरों ने इनमें बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया पर इनका दमन कर दिया गया। 1871 में फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय की जर्मन राज्य प्रशा के हाथों में शर्मनाक पराजय के बाद पेरिस में मजदूरों ने मानव इतिहास में पहली बार अपनी पहल पर एक राज्य–**'पेरिस कम्यून'** कायम कर लिया।

पेरिस कम्यून पूंजीवाद से मुक्ति का पहला सफल प्रयास था। कुछ हफ्तों में मजदूरों ने दिखा दिया था कि कैसे वे अपने हित में सत्ता का संचालन कर सकते हैं। यह तो शासकों के लिए खतरे की घंटी थी। पराजित फ्रांस और विजेता प्रशा की मिली जुली सेनाओं ने मिलकर पेरिस कम्यून का दमन कर दिया और एक लघु–प्रयोग असफल हो गया।

लेकिन इसका मार्क्स और उसके साथियों ने सार–संकलन कर लिया और इस नतीजे पर पहुंचे कि किसी नई व्यवस्था का संचालन पुरानी संस्थाओं के माध्यम से नहीं हो सकता। नई व्यवस्था के लिए नई विचारधारा ही नहीं नए तंत्र की भी जरूरत पड़ती है। इसके बाद सभी पूंजीवादी देशों में जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, बेल्जियम और संयुक्त राज्य अमरीका में मजदूरों के संगठन मजबूत बनने लगे और अपने अधिकारों के लिए लंबी–लंबी हड़तालें करने लगे। जर्मनी में **बिस्मार्क** ने समाजवाद से लड़ने के लिए राजकीय समाजवाद की नीति अपनाई और मजदूरों की मुख्य मांगों को संशोधित रूप में राज्य द्वारा स्वीकार कर लिया गया। पर यह मजदूरों को भटकाने का प्रयास था जिसे मजदूर समझने लगे थे।

अंत में, एक समाजवादी क्रांति हुई, किसी पूंजीवादी देश में नहीं, दुनिया के सबसे बड़े देश रूस में जहां पूंजीवाद पूरी तरह विकसित नहीं था। 1917 में हुई रूसी क्रांति के नेता **लेनिन** ने इसकी व्याख्या इस तरह की कि पूंजीवादी जंजीर को तोड़ने के प्रयास में जो सबसे कमजोर कड़ी थी वह टूट गयी, यानी जहां पूंजीवाद सबसे कमजोर था वहीं समाजवादी क्रांति हो गई।

रूसी क्रांति के बाद स्थापित सोवियत यूनियन में पहले तो सारे पूंजीवादी देशों की मदद से रूस के सामन्तों, पादरियों और अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने विद्रोह कर दिया। एक गृह–युद्ध छिड़ गया। परन्तु कुछ ही वर्षों में क्रांतिकारी शक्तियां जीत गईं और समाजवाद के निर्माण यानी पूंजीवाद से मुक्ति का प्रयास शुरू हुआ। पहले तो देश में हर स्तर की पंचायतें (इन्हें रूसी में 'सोवियत' कहते थे) कायम हुईं और सत्ता का विकेंद्रीकरण करने के प्रयोग हुए लेकिन गृह युद्ध के संकट के कारण यह प्रयोग चल नहीं पाया और एक केंद्रीकृत सैनिक और प्रशासनिक व्यवस्था का संगठन

करना पड़ा। नए राज्य में पूंजीवाद और पूंजीपतियों के पूर्ण वहिष्कार के कारण अनुभवहीनता में मजदूर–राज्य लड़खड़ाने लगा। अब लेनिन ने नई अर्थ नीति (न्यू इकनामिक पालिसी) लागू की।

यह पूरानी व्यवस्था से समझौता था। एक छोटे स्तर पर सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था को तात्कालिक रूप से छूट दे दी गई। पर मजबूरी में दी गई यह छूट घातक साबित हुई।

रूस के क्रांतिकारी नेतृत्व में बराबर मतभेद बने रहे और लेनिन की मृत्यु के बाद तो फूट बढ़ती चली गई। सर्वोच्च नेतृत्व के नेता एक–एक कर बाहर कर दिए गए और सत्ता पूरी तरह **स्तालिन** के हाथों में आ गई। वह पूरी तरह सर्वहारा नेता था। एक मोची परिवार में जन्मा स्तालिन पूरी तरह क्रांति को समर्पित था। पर फ्रांस की क्रांति के नेता रोब्सपिऐर की तरह अपने को ही सही समझता था (सेल्फ राइट्स था)। उसने पंचवर्षीय योजनाएं लागू कीं। विविध क्षेत्रों में अभूतपूर्व उत्पादन होने लगा। इसी बीच यूरोप फासीवाद यानी उत्कट राष्ट्रवादी–नस्लवादी–सैन्यवादी पूंजीवाद का उद्‌भव हुआ। फासीवादी नेता राष्ट्रवादी समाजवाद का मुखौटा लगाकर रूसी समाजवाद को सबसे बड़ा शत्रु घोषित कर चुके थे। इसी बीच द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया। इसमें जर्मनी पश्चिमी देशों से निपटने के लिए पूर्वी सीमाएं सुरक्षित रखना चाहता था और सोवियत यूनियन फासीवाद से निबटने के लिए तैयारी के लिए थोड़ा समय चाहता था। इसलिए तात्कालिक आवश्यकता के लिए सोवियत यूनियन और जर्मनी ने संधि कर ली। पर दोनों के बीच अनिवार्य शत्रुता थी इसलिए थोड़े ही दिनों बाद जर्मनी ने सोवियत यूनियन पर हमला करके बड़े भू–भाग पर कब्जा कर लिया।

एक समय ऐसा लगने लगा था कि फासीवादी देशों–जर्मनी, इटली और जापान का गठबंधन जीत जाएगा। पर फासीवाद को ही सबसे बड़ा खतरा समझ पश्चिमी देशों और सोवियत यूनियन ने मिल कर उसके विरुद्ध लड़ने का फैसला किया।

भारी नर–संहार और अभूतपूर्व विध्वंस के बाद फासीवाद पराजित हुआ और इसमें स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत यूनियन की सबसे बड़ी भूमिका थी। उसी ने सबसे बड़ी कीमत भी चुकाई। पर विश्व युद्ध समाप्त होते ही इंगलैंड के प्रधानमंत्री **चर्चिल** ने सोवियत यूनियन को लौह पर्दा (आयरन कर्टेन) या नी अजानतांत्रिक करार देकर शीतयुद्ध शुरू कर दिया।

इसी बीच एशिया के सबसे बड़े देश चीन में भी 1949 में क्रांति हो गई। चीन में तो रूस जैसा भी पूंजीवादी विकास नहीं हुआ था। वहां तो मजदूर बहुत कम थे

जिनके नेतृत्व में क्रांति होनी थी। परन्तु माओ–त्से–तुंग ने चीन को अर्ध 'सामंती, अर्ध–औपनिवेशिक' देश करार देकर एक नवजनवादी क्रांति की राजनीति शुरु कर दी। मुख्यतः किसानों के भरोसे दुनिया के सबसे पुराने साम्राज्य और कनफूसियस और बुद्ध का समन्वय करने वाले जुगाड़बाज चीन में समाजवाद लाने की मुहिम शुरू कर दी गई।

चीन भी रूस की तरह समाजवाद के लिए अनुपयुक्त था। वहां भी अभूतपूर्व प्रगति हुई पर समाजवाद के रास्ते में कठिनाइयां ही कठिनाइयां थीं। वहां भी मतभेद सिर उठाने लगे।

चीन और रूस पड़ोसी देश हैं। पड़ोसियों के बीच वैसे भी तरह–तरह की प्रतिद्वंदिताएं होती ही हैं। रूस और चीन के बीच तो विचारधारात्मक भी मतभेद था, क्योंकि दोनों ने मार्क्सवाद और क्रांति की भिन्न–भिन्न व्याख्याएं की थीं। एक समय तो ऐसा भी आया कि लगने लगा कि रूस और अमरीका के बीच जितनी शत्रुता नहीं उतनी चीन और रूस के बीच है। शीत युद्ध के दौरान शस्त्रास्त्रों की होड़ बढ़ती जा रही थी। ब्रिटिश विचारक **बर्ट्रेन्ड रसेल** ने सावधान किया कि 'प्रथम विश्व युद्ध' टैंको से शुरू हुआ था और उसका अंत हवाई युद्ध से हुआ। दूसरा विश्व युद्ध हवाई जहाजों से शुरू हुआ और अंत परमाणु बम से हुआ। तीसरा विश्व युद्ध शुरू ही होगा परमाणु युद्ध से।'

यह भयावह स्थिति थी। दुनिया आत्मघात की ओर बढ़ रही थी। सभी देशों ने शस्त्रास्त्रों पर अपार धन राशि खर्च करना शुरू कर दिया था। सभी देशों की प्राथमिकताएं बदल रही थीं। पूंजीवादी देश तो अपनी जनता और सारी दुनिया के देशों की जनता की लूट से धन जुटा रहे थे पर रूस और चीन कहां से धन जुटाते। उनकी अर्थ व्यवस्थाएं लड़खड़ाने लगी।

ऐसे में अनिवार्य शत्रुता के सिद्वांत को दरकिनार कर समझौते के प्रयास शुरू हुए। रूस के नेता **खुश्चेव** ने घोषणा की कि पूंजीवाद और समाजवाद में सह–अस्तित्व संभव है। दूसरी ओर अमरीकी राष्ट्रपति चीन गए जिसे अमरीका ने अब तक मान्यता भी नहीं दी थी।

समझौतों के इस माहौल में पूंजीवाद के अन्त की योजना खटाई में पड़ गई और समाजवादी देशों में भी पूंजीवाद चुपके–चुपके सिर उठाने लगा। अंततः, परिणाम यह हुआ कि सोवियत यूनियन में पहले पूंजीवाद ने घर बनाया और फिर सोवयित यूनियन का विघटन कर दिया गया। इसके बाद तो घोषणा कर दी गई कि इतिहास का अंत हो गया है, दुनिया एक ध्रुवीय हो गई है, और पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं रहा।

इस बीच चीन में भी यह सिद्वांत प्रतिपादित हो गया कि मुख्य बात यह है कि बिल्ली चूहे पकड़े–वह सफेद है या काली इससे कोई फर्क नहीं पड़ता–यानी अगर समाज विकास कर रहा है तो रास्ता कोई भी हो सकता है। इस तरह समाजवाद का रूप बरकरार रखते हुए अन्तर्वस्तु पूंजीवादी बना दी गई और उसे बाजार समाजवाद (मार्केट सोशलिज्म) का नाम दे दिया गया। पूर्वी यूरोप का समाजवादी ब्लाक और वियतनाम भी पूंजीवादी दुषचक्र में फंस गए। उत्तरी कोरिया अपनी अनोखी राह की जिद पर अड़ा रहा। केवल क्यूबा **'समाजवाद या मौत'** का झंडा बुलंद किए हुए है।

बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही इंगलैंड में जनतांत्रिक ढंग से मजदूरों का राज्य कायम करने के लिए लेबर पार्टी की स्थापना की गई थी। इस पार्टी में कुछ मामलों में समाजवादी नीतियां अपनाईं पर **टोनी ब्लेयर** के प्रधानमंत्रित्व काल में लेबर पार्टी और कंजर्वेटिव पार्टी में अंतर करना मुश्किल हो गया।

भारत में भी स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ही मार्क्स और गांधी का समन्वय करते एक देशी समाजवाद स्थापित करने की कोशिश की गई थी। **आचार्य नरेन्द्र देव, राम मनोहर लोहिया** और **अच्युत पटवर्धन** आदि ने कांग्रेस सोशलिस्ट दल बनाया था जो बाद में कांग्रेस से अलग हो गया था। इस दल के हाथ में सत्ता भी आई पर उसमें विघटन होता गया और आज की समाजवादी पार्टी में समाजवाद की छाया तक नहीं बची है।

नेहरू के ढुलमुल विचारों ने कांग्रेस को भी समाजवादी ढंग का (सोशलिस्ट पैटर्न) राज्य बनाने का दिखावा जारी रखा। इंदिरा ने भारत को समाजवादी गणतंत्र घोषित कर दिया। पर वास्तव में भारत में किसी तरह का समाजवाद नहीं आया। वैसे खुलेआम बाजारू अर्थव्यवस्था अपना लेने के बाद भी संविधान से आज भी समाजवाद हटाने की हिम्मत किसी सरकार में नहीं दिखाई देती।

वास्तव में समाजवाद की 'गुडविल' जनता में घर कर गई है और दक्षिणपंथी भी समाजवाद का विरोध नहीं कर पाते। पर यह भी सच है कि समाजवाद अपने पारंपरिक और आजमाए तरीकों से पूजीवाद का अंत करने में सक्षम नहीं दिखता। दूसरी ओर, यह भी सच है कि पूंजीवाद यानी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और पूंजीवादी संस्कृति के प्रति कुछ लोगों का आकर्षण और जनता के भारी बहुमत में उसके प्रति क्षोभ बढ़ता जा रहा है।

सारी दुनिया में पूंजीवाद से मुक्ति के विभिन्न प्रयोग हो रहे हैं। खास तौर पर लातिन अमरीका के विभिन्न देशों में नए–नए प्रयोग हो रहे हैं। उल्लेखनीय है दिवंगत **शावेज** के नेतृत्व में लातिन अमरीकी देशों के पहले प्रेरणास्रोत **बोलिवार** के नाम से

प्रसिद्व एक समाजवाद जिसमें स्थानीय भूगोल, इतिहास और स्थितियों पर और शामिल देशों के सहकार पर बल है।

इस संदर्भ में विचारक **जॉन हालोवे** की पुस्तक **'चेंजिंग द वर्ल्ड विदाउट पावर** ('चीख' नाम से हिन्दी में आनूदित और संवाद प्रकाशन से प्रकाशित) का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इसमें उन्होंने राज्यसत्ता पर कब्जा करके समाज को पूंजीवाद से मुक्ति दिलाने के अब तक के प्रयोगों की समीक्षा कर उन्हें दोषपूर्ण पाया है और मैक्सिको में हो रहे **जापातिस्ता** आंदोलन को विशेष रूप से रेखांकित किया है। इस आंदोलन में किसी भी तरह के केंद्रीकरण से बचा जाता है और सामुदायिक और विकेंद्रित जमीनी प्रयोगों तथा जन–पहल पर जोर दिया जाता है। अपनी हाल ही में प्रकाशित दूसरी किताब **'क्रैक** कैपिटलिज्म' में उन्होंने पूंजीवाद में मौजूद दरारों का जिक्र किया है और उन्हें बढ़ाते जाने पर जोर दिया है। इन विचारों का धीरे–धीरे प्रभाव बढ़ रहा है।

यहीं **वर्ल्ड सोशल फोरम** का भी जिक्र करना जरूरी है। यह आंदोलन ब्राजील में शुरू हुआ। इसका कोई संगठन नहीं है और कोई निर्धारित लक्ष्य तथा कार्यक्रम भी नहीं है। इसीलिए यह एक संगठन न होकर एक मंच है। इसमें दुनिया के हजारों ऐसे संगठन भागीदारी करते हैं जो अन्याय के विरुद्ध और मानवता तथा शांति के लिए अपने–अपने देशों में संघर्ष कर रहे हैं। साल में एक बार कहीं इकट्ठा होते हैं और वर्तमान संसार के अन्यायों को चिन्हित करते हैं। इसका एक समागम मुम्बई में हो चुका है। इसमें संघर्ष और सृजन का समन्वय दिखाई देता है। कहा जा सकता है कि इस आंदोलन ने पूंजीवाद के विरुद्ध कोई चुनौती नहीं खड़ी की है। पर यह तो सच है कि इससे पूंजीवाद के विरुद्ध विश्व–व्यापी समन्वित प्रयास के प्रति जागरूकता बढ़ी है।

इस संदर्भ में पिछले दो वर्षों से अमरीका में चल रहे, स्वतःस्फूर्त आंदोलन–**'आक्युपाई वाल स्ट्रीट'** का जिक्र जरूरी है। यह आंदोलन न्यूयार्क में विश्वपूंजी के गढ़ वाल स्ट्रीट में शुरू हुआ। एकदम स्वतः स्फूर्त ढंग से–न कोई नेता, न घोषणा पत्र, न निश्चित कार्यक्रम। इसमें एक बात खास थी– **नाइनटी नाइन अगेंस्ट वन** यानी निन्नानबे के विरुद्ध एक। मतलब साफ था समाज में सौ में एक ही है जो लोगों को वंचित और उत्पीड़ित करता है। उसके खिलाफ सभी को एकजुट होकर संघर्ष करना है। यह आंदोलन शीघ्र ही सारे विश्व में फैल गया और इसमें सभी तरह के पूंजीवाद विरोधी तन्त्र, विशेष कर युवा शामिल होते गए। लोगों का ख्याल था कि ऐसे असंगठित प्रयास बहुत दिनों तक नहीं चल पाते और वे टूट–बिखर जाते हैं। ऐसा ही

हुआ पर इससे एक नई चेतना का संचार हुआ है।

इसी से अंत में कहा जा सकता है कि आज दुनिया में पूंजीवाद ही सभी रोगों का समुच्चय है। वह मानवता का अब तक का सबसे बर्बर शत्रु है। वह इतिहास की सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों–यहां तक कि कट्टरता संकीर्णता और आतंकवाद, का भी इस्तेमाल कर मानवता का शोषण–दमन– उत्पीड़न–विध्वंस जारी रखे हुए है। सोवियत यूनियन के विघटन, चीन के भटकाव और दुनिया के जन आंदोलनों के कमजोर पड़ जाने के कारण वह निर्द्वंद्व हो गया लगता है। उसे अपनी अन्तर्निहित कमजोरियों का पता है इसलिए उसने एक सांस्कृतिक युद्ध छेड़ दिया है ताकि दुनिया में उसके विरोध की चेतना ही नष्ट हो जाय, उसे मनमाने ढंग से हांका जा सके और कुछ लोग सारी दुनिया के सारे संसाधनों का मनमाना उपभोग करते रहें।

पर मानवता की सृजनशीलता और विवेक बाकी हैं। आज दुनिया ऐसे संक्रमण में फंसी है कि एक ओर महाविध्वंस है तो दूसरी ओर नवोन्मेश। दुनिया में कुछ भी अप्रश्नेय नहीं रहा। दुनिया में आज जितने युवा और वृद्व हैं पहले कभी नहीं थे। युवाओं के पास अपार उत्साह और ऊर्जा है तो वृद्वों के पास अपार अनुभव। दोनों का समन्वय निश्चित ही नई राहें बना सकता है।

मानवता का सबसे बड़े शत्रु पूंजीवाद अपनी प्रकृति बदल नहीं सकता–भले ही वह कितने ही मानवतावादी मुखौटा लगाता फिरे (कैपिटलिज्म विद ए ह्यूमन फेस?)। इसलिए वह बढ़ते शोषण, दोहन के क्रम में धरती को ही विध्वंस के कगार तक ला चुका है। उससे बचने का एक ही उपाय है, पूंजीवादी व्यवस्था का अंत।

इसीलिए समय आ गया है कि सभी पूंजीवाद विरोधी शक्तियों के बीच समन्वय कायम हो तथा वैश्विक सृजन–संघर्ष शुरू हो– संघर्ष सृजनात्मक हो और सृजन संघर्षात्मक। ऐसा होकर रहेगा क्योंकि मानवता अपना विवेक नहीं खो सकती। इसमें जो भी जितना योगदान कर सकता है करे। अब तटस्थता अपराध हो गया है।

– – –

6
गरीबी से मुक्ति

मानव सभ्यता के मुंह पर गरीबी सबसे बड़ा कलंक है। यह रोचक जिज्ञासा है कि 'गरीब' का आविष्कार कैसे हुआ होगा। जाहिर है, जैसे ही व्यक्तिगत संपत्ति का जन्म हुआ सम्पत्तिवानों का दर्जा विशिष्ट हो गया और सम्पत्तिहीन गरीब मान लिए गए होंगे, समाज में बहुमत हमेशा ही गरीब रहा है। गरीबी एक सापेक्ष स्थिति है, भारत और अमरीका के गरीबों का स्तर एक जैसा नहीं है। भारत में तो गरीबी को लेकर इतना विवाद है कि गरीबी रेखा का सर्वस्वीकृत निर्धारण भी नहीं हो पाता। कारण यह कि लोक सेवक समाज की अवधारणा में गरीब के पोषण का दायित्व राज्य का माना जाता है और यह जग–जाहिर है कि राज्य अपने दायित्वों का ठीक से निर्वाह नहीं करते–खासतौर से वे दायित्व जो शासक वर्गों के पक्ष में नहीं होते।

समाज में गरीबों के प्रति शुरू से सहानुभूति का चलन रहा है। एक ओर धन में सारे गुण देखे जाते रहे हैं–**सर्वे गुणाः कांचनम् आश्रियन्ति।** यहां तक कि भारत में तो लक्ष्मी को देवी ही बना दिया गया है। दूसरी ओर, धन को सभी दुर्गुणों का स्रोत भी कहा गया है। सभी धर्मों में गरीबी का गौरवान्वयन है। बाईबिल तो कहती है कि गरीबों पर ही ईश्वर का वरदहस्त है। वे स्वर्ग के उत्तराधिकारी हैं। अन्य धर्मों में भी पीरो–पैगम्बर तथा ऋषि–मनीषी गरीबी में ही जीवन बिताते दिखाए गए हैं।

बड़ी प्रचलित कहावत है 'संतोषम् परम् सुखम्'। गरीबी पर यहीं से बात शुरू की जाए। गरीब तभी तक संतोष कर सकता है जब तक वह नियतिवादी हो और 'जाही विधि राखे राम, ताहि विधि रहना है' मानता रहे। जब संसार में इतने प्रलोभन नहीं थे तब भी संतोष करना सरल नहीं रहा होगा। पर जैसे ही मनुष्य को पता चलता है कि वह गरीब इसलिए है कि कुछ लोग उसकी गरीबी के कारण ही अमीर हैं, वह गरीबी से कैसे संतोष कर सकता है?

सभ्यता के प्रारंभिक काल में भी कुछ लोग अमीर और अधिकांश लोग गरीब होते थे पर कोई इतना गरीब नहीं होता था कि भीख मांगना पड़े या भूखों मरना पड़े। उसी समय भिक्षा मांगने को गौरवान्वित किया गया। बौद्धभिक्षु तो भिक्षाटन द्वारा ही जीवन–यापन

करते थे। सवर्ण हिन्दू भी जनेयू के समय भिक्षा मांगते थे। इसीलिए भिक्षा मांगने वाले का समाज में सम्मान था। उसी का परिणाम है कि आज भी भिखारी को भिक्षा देना धर्म माना जाता है। रहीम ने तो अपने चुटीले भाव के साथ कह दिया है:

रहिमन वे नर मर चुके, जो कछु मांगन जाहिं
उनके पहले वे मरैं, जिन मुख निकसत नाहिं

आज भी यह चलन जारी है कि भिक्षु को कहा जाता है 'भैया माफ करो, आगे जाओ' यह तब तक संभव था, जब तक गरीब को एक तरह से सामाजिक संरक्षण प्राप्त होता था। गाँव में कोई भूखा नहीं मर सकता था।

पर धीरे–धीरे समाज में स्वार्थ और आत्मकेन्द्रिता बढ़ती चली गयी और उपेक्षा यानी सरोकार का अभाव बढ़ता गया। गरीबी को पूर्वजन्म के पापों का फल कहा जाने लगा। अब पाप का फल भोगने वाले के प्रति क्या सहानुभूति?

धीरे–धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि स्वेच्छा से गरीबी का जीवन बिताने और मजबूरी में गरीब होने के बीच भारी अंतर है। सब धन होते हुए भी निर्धन की तरह जीवन बिताने वालों को त्यागी–तपस्वी कहा जाने लगा और आधुनिक काल में भी बहुत से विचारकों ने इस तरह की राह को गौरवान्वित किया है। गांधी जी ने जब इसी तरह की राह चुनी तो उन्हें रूस के **तोल्सतॉय,** ब्रिटेन के **रस्किन** और अमरीका के **थोरो** से प्ररेणा मिली थी। भारत के ऋषि–मुनि, विशेषकर जैन परंपरा के, तो उस परंपरा के उत्तराधिकारी थे ही।

आधुनिक काल में ज्यों–ज्यों नियतिवाद से समाज मुक्त होने लगा त्यों–त्यों गरीबी मानव–निर्मित स्थिति लगने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रेंच विचारक प्रूधों ने दो टूक कहा कि बिना किसी का हक मारे संपतिवान नहीं हुआ जा सकता। समाज में राजे–महराजे, जमीदार, सामंत और सेठ–महाजन आदि किसानों, मजदूरों, कारीगरों को गरीब रख कर ही अमीर बने रहते थे।

पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी में जब पूंजीवाद का प्रादुर्भाव हुआ तो गरीबी तेजी से बढ़ने लगी, क्योंकि कुछ लोग तेजी से अमीर होने लगे थे। गाँवों से किसान बेदखल होने लगे। शहरों में मजदूर, मजदूरी के लिए श्रम करने लगे। और वह मजदूरी न निश्चित होती थी, न पर्याप्त। अब गरीबी विद्रूप और भयानक होती गयी। गरीबी तरह–तरह के समाजिक रोगों और अपराधों का करण बनती गयी। एंगेल्स ने जब औद्योगिक क्रांति के बाद ब्रिटेन के औद्योगिक मजदूरों का अध्ययन किया तो पता चला कि इस 'नई गरीबी' के कारण मनुष्य अमानवीय स्थिति में रहने को मजबूर है। यह वही अमानवीयता

है, जिसको प्रेमचन्द ने अपनी अमर कहानी 'कफन' में घीसू और माधो के अमानवीयकरण के रूप में चित्रित किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही फ्रांस के विचारक **ओगुस्त कोम्त** ने समाजशास्त्र विकसित किया और समाज का बाकायदा अध्ययन किया जाने लगा। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण काम **मार्क्स और एंग्लेस** ने किया जब उन्होंने इस नई गरीबी का कारण पूंजी के चरित्र में दिखाया। उनके अनुसार 'शोषण' पूंजी का चरित्र है। बिना शोषण के पूंजी का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। और यह पूंजी इतनी निर्मम व्यवस्था है कि वह अपने अस्तित्व तथा विस्तार के लिए किसी नियम–कानून, मर्यादा--धर्म का उल्लंघन कर सकती है।

आज यह जगजाहिर है कि लोग गरीब होते नहीं गरीब बनाए रखे जाते हैं। वर्ना क्या कारण है कि दुनिया के सबसे अमीर देश अमरीका में भी गरीबी रेखा की बात की जाती है। अमरीकी समाज की आमदनी के हिसाब से सापेक्ष रूप से गरीब तो करोड़ों लोग हैं। अमरीका में अधिकांश मेहनतकशों को ओवरटाइम या कई नौकरियां करनी पड़ती हैं। तभी वह अपना जीवन–निर्वाह कर पाते हैं और लगातार बने रहने वाले कर्जों के बोझ को सहनीय बनाते रहते हैं। इसे तो कुछ लोग तर्कों से समझा ले जा सकते हैं। पर अमरीका की एक यह भी सच्चाई है कि आज भी लाखों लोग भीख मांगते हैं। मैंने **वर्ल्ड बैंक** के सामने एक अश्वेत महिला की भीख मांगते हुए फोटो खीची है। तस्वीर में पृष्ठभूमि में विश्व बैंक की इमारत और उसका नाम साफ–साफ दिखता है। रविवार को दुनिया के सबसे धनी देश की राजधानी वाशिंगटन में कुछ लोग मुफ्त खाना बांटते हैं और भूखे लोगों की लंबी कतारें लग जाती हैं। इनमें से अधिकांश अश्वेत होते हैं। पर मैंने कूड़ेदान से खाली डब्बे बटोरती एक श्वेत महिला से भी बात की है जो बुढ़ापा काटने के लिए इन डिब्बों को बेचकर एकाध डॉलर कमाने के लिए मजबूर थी। यह स्थिति राज्य और समाज दोनों के लिए अपमानजनक और अक्षम्य है।

इस स्थिति को भारत के संदर्भ में भी समझ लिया जाय। दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र की सरकार भी मानने को मजबूर है कि इस देश की करीब आधी जनता गरीब रेखा के नीचे रहती है। बहुत से नेता और सरकारी अर्थ शास्त्री गरीबी का मजाक बनाते हुए बेशर्मी से यह कहते देखे जा सकते हैं कि बीस रुपये रोज में इस देश में मनुष्य की तरह जिया जा सकता है। बेहयाई से वह इस बात को नजरअंदाज करते हैं कि करोड़ों लोगों की तो इतनी भी आमदनी नहीं और उन्हें स्वस्थ भोजन और पेयजल जीवनभर मयस्सर नहीं होता। उनमें से अधिकांश तरह–तरह के रोगों से ग्रस्त हैं और तिल–तिल

कर मर रहे हैं।

यह सब आपराधिक है, क्योंकि विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या हल कर दी है। अब देश और दुनिया में इतना उत्पादन होता है कि कोई भी व्यक्ति भूखा और नंगा न रहे। इतिहास में क्या कोई ऐसी बेशर्म सरकार हुई है कि उसके गोदामों में चूहें मौज करें और बेघर इंसान भूखों मरें।

अमरीका में ही नहीं भारत में भी कुछ लोग ऐसे बेहया तर्क देते हैं कि कुछ लोग इसलिए गरीब होते हैं क्योंकि वे मेहनत नहीं करते और अवसर का लाभ नहीं उठाते। अमरीका में तो सक्षम लोगों की प्रायः यही दलील होती है। वह तो यह भी कहते हैं कि अमरीकी जेलों में अश्वेतों की संख्या इसलिए ज्यादा है कि वे निकम्मे और 'आपराधिक प्रवृति' के होते हैं। यह दलील भारत में भी बढ़ती जा रही है।

गरीबी इसीलिए तो अन्याय है ही कि आपूर्ति भरपूर होने के बावजूद मूलभूत मांगें भी पूरी नहीं होती। वह इसलिए एक अक्षम्य अपराध है कि वह मानवता की संभावनाओं को बाधित करती है। वैज्ञानिक इसे प्रमाणित कर चुके हैं कि भूखे व्यक्ति का शारीरिक और मानसिक विकास बाधित रहता है। जाहिर है भोजन न पाने वाला व्यक्ति शिक्षा से भी वंचित हो जाता है। ऐसे में उसका बौद्विक विकास भी पूरी तरह नहीं हो पाता। जब गरीबी मजबूरी भी हो, तो वह आसानी से प्रलोभनों का शिकार हो सकती है। और केवल जीने के लिए भी छोटे से छोटे समझौते कर सकती है। ऐसे में कितनी संभावनाओं का गला घोंट दिया जाता है इसकी तो गणना भी नहीं हो सकती।

गरीबी से मुक्ति को विज्ञान ने संभव बना दिया है। अब उसे कार्यान्वित करने वाले सृजन और संघर्ष की जरूरत है।

— — —

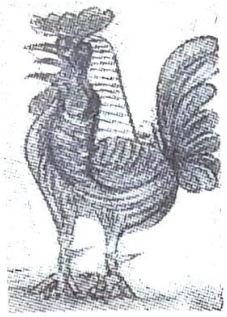

7
सांस्कृतिक गरीबी से मुक्ति

यह तो हुई मुख्य रूप से आर्थिक गरीबी की बात। सांस्कृतिक गरीबी एक सूक्ष्म मुद्दा हो सकता है, पर वह किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है। वह इसलिए तो विडम्बनापूर्ण है कि सांस्कृतिक गरीबी के शिकार अपेक्षतया अमीर लोग भी होते हैं। भोजन अप्राप्त या अप्राप्य हो तो किसी का भूखा रहना समझ में आ सकता है पर सब कुछ उपलब्ध हो पर स्वामी उन्हें ग्रहण करने में सक्षम न हो या उसकी रुचि न हो या उसके पास समय न हो तो यह कितनी बड़ी विडम्बना कही जाएगी?

मनुष्य एक बहुआयामी प्राणी है। इसीलिए 'आर्थिक' स्थिति मनुष्य का सबसे आवश्यक और अनिवार्य पक्ष है, किन्तु यह केवल उसका प्राथमिक और आंशिक रूप है। मनुष्यता की पूर्णता उसके सांस्कृतिक आयाम में ही है यानी जन्तु–आदमी के सांस्कृतिक इंसान बनने में। इसे ही समझ कर **मिर्जा गालिब** ने अपनी कसक को अभिव्यक्ति दी थीः **आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना**। इंसान बनने की यह चुनौती लगातार बेहतर इंसान बनते जाने की चुनौती के रूप में हमेशा मौजूद बनी रहती है और रहेगी। इसी दृष्टि से हमारा कहना है कि आर्थिक रूप से भरपूर संपन्न और समृद्ध लोग ही प्रायः सांस्कृतिक रूप से गरीब दिखाई पड़ते हैं। अधिकांश लक्ष्मी की पूजा में इतने व्यस्त रहते हैं कि सरस्वती के स्पर्श से भी वंचित रह जाते हैं। त्रासदी यह है कि वे अपनी इस वंचना के प्रति जागरूक भी नहीं होते। यह त्रासदी इसलिए और गहरी है कि अगर आर्थिक रूप से समर्थ लोगों की सांस्कृतिक रुचियां और सरोकार हों तो निश्चित रूप से उनकी संवेदनाओं में तराश बढ़ेगा–उनके मूल्यबोध में परिवर्तन आ सकता है। तब वे निश्चित रूप से समाज की सांस्कृतिक समृद्धि में बेहतर योगदान कर सकते हैं।

हम यहां विशेष रूप से सामान्यजन की सांस्कृतिक गरीबी को चिन्हित करना चाहते हैं। संस्कृति मनुष्यता का अनिवार्य आधार है। इसलिए गरीब आदमी भी स्वभावतः जितना संभव है उतना तो सांस्कृतिक प्राणी बना ही रहता है। हम गौर करें तो पाएंगे कि गरीब आदमी जितना तीज–त्योहार, हाट–मेला, गीत–संगीत–नृत्य में सहज रूप से

दिलचस्पी लेता है उतना सक्षम लोग नहीं लेते। आप गौर करेंगे तो पाएंगे कि भारतीय समाज के सबसे सांस्कृतिक प्राणी आदिवासी होते हैं। इसीलिए उनके जीवन में जितना आनन्द होता है वह आर्थिक रूप से सुखी लोगों को उपलब्ध नहीं।

समस्त अश्वेत अफ्रीका और लातिन अमेरिका पर ध्यान दे तो हम पाएंगे कि यह क्षेत्र अपेक्षतया पिछड़ा कहलाता हैं। पर यहां के जीवन में जितना नृत्य–संगीत रचा–बसा है उतना दुनिया के किसी क्षेत्र में नहीं। यहां के लोग आधुनिक सभ्यता को अपना लेने के बाद भी आंदोलन तक नाचते–गाते हुए करते हैं।

फ्रांसीसी क्रांति के नेता दांतों ने क्रांति के दौरान ही कहा था कि जीवन में रोटी के बाद सबसे महत्वपूर्ण चीज शिक्षा ही होती है। शिक्षा को हम छठी इंन्द्रिय भी कह सकते हैं। इंन्द्रियों से हम जो भी ग्रहण करते हैं वह शिक्षा के माध्यम से और अधिक बढ़ सकता है, और अधिक परिष्कृत हो सकता है।

भारत के प्राचीन मनीषियों ने भी कहा था कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन के संदर्भ में मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं होता। अपने बृहत्तर अर्थ में धर्म–संस्कार–परिष्कार यानी मनुष्यता ही मनुष्य को पशु से अलग करते हैं। आर्थिक गरीबी से मुक्ति केवल जिन्दा रहने के लिए जरूरी है। मनुष्य जीवन को सार्थकता देने के लिए सांस्कृतिक गरीबी से मुक्ति आवश्यक है। इसीलिए हमारा आग्रह है कि गरीब आदमी को रोटी–कपड़ा और मकान तक सीमित न रखा जाय। केवल इन्हीं के लिए संघर्ष करता व्यक्ति, संघर्ष में जीतकर भी पूरी तरह जीत नहीं पाता। सबसे जरूरी होता है मानसिकता में परिवर्तन और उसके लिए संघर्ष के लक्ष्यों का भी विस्तार किया जाना चाहिए ताकि मनुष्य चेतना की भूख को भी उतना ही महत्व दे सके।

– – –

8

संकीर्णता, पिछड़ेपन और साम्प्रदायिकता से मुक्ति

संकीर्णता और पिछड़ापन साम्प्रदायिकता, श्रेणीबद्धता, कुलीनता आदि रोगों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

मानव इतिहास में पहली सुव्यवस्थित व्यवस्था को सामंती व्यवस्था कहा जा सकता है जिसका मर्म था असमानता, श्रेणीबद्धता, कुलीनता, एक तरह की जमीदारी व्यवस्था। इसके रूप अलग–अलग देशों में और एक ही देश के अलग–अलग क्षेत्रों में अलग अलग थे। इन रूपों का अगर लघुत्तम समापवर्तक निकाला जाय तो उसे कहा जा सकता है एक तरह का पिछड़ापन और संकीर्णता–यानी समाज में समयानुकूल परिवर्तन न होना और स्थिर श्रेष्ठताबोध यानी कुलीनता और विश्वदृष्टि का संकीर्ण से संकीर्णतर होते जाना।

मानव मुक्ति [illegible] बड़ा अवरोध रहा है क्योंकि इनके कारण विद्वान से विद्वान व्यक्ति संकीर्ण हितों के चक्कर में पड़ कर अपनी संभव उदारता और उदात्तता से वंचित रह जाता है। उदाहरण के लिए भारत के प्रबुद्धवर्ग को लें। उसके प्रायः दो चेहरे होते हैं–एक समाज में और दूसरा निजी जीवन में। उसका 'पब्लिक फेस' स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की बात करता मिलता है और 'प्राइवेट फेस' इन सिद्वांतों को अपने घर में भी नहीं लागू करता। अधिकांश शिक्षक, न्यायधीश, राजनेता और समाज को बदलने का दम भरने वाले लोग, अपनी पत्नियों, बच्चों, सेवकों आदि को दूसरे–तीसरे स्थान पर ही रखना पसंद करते हैं। यहां तक कि 'वामपंथी' पुरुष भी नारी को वास्तविक बराबरी नहीं देते। समाज पर शासन करने वाले समुदाय के दोहरे जीवन के नाते पूरा समाज छोटे–छोटे तात्कालिक हितों में फंसा रहता है और वृहत्तर समकालीन परिप्रेक्ष्य में चीजों को नहीं देख पाता। इस तरह कुल मिलाकर समाज का नजरिया अपेक्षित गति से नहीं बदलता।

दूसरी ओर, इसे एक सैद्वांतिक कसौटी पर कसें। जब पूंजीवाद का विकास हुआ तो यूरोप में सामंतवाद का राज था। पूंजीवादको इस जकड़बंदी को तोड़ने के लिए

यानी अपने मूल शत्रु का अंत करने के लिए पग–पग पर लड़ना पड़ा था। पर जब वह शक्तिशाली हो गया और ब्रिटेन तथा फ्रांस में पूंजीवादी क्रांतियों के बाद सत्तासीन भी हो गया तो उसने सामंती संकीर्णता और पिछड़ेपन का अंत नहीं किया। उल्टे उससे समझौता कर लिया और आज तक सभी पूंजीवादी देशों में सामंती संस्थाएं और मान्यताएं जिंदा ही नहीं हैं फूल–फल रही हैं।

इस पूंजीवादी सामंती घालमेल के कारण आम जनता और अधिक नष्ट–भ्रष्ट तथा कमजोर होती जा रही है। पर सवाल तो उठता ही है कि उत्तर आधुनिक होता जा रहा पूंजीवाद संकीर्णता और पिछड़ेपन को क्यों बर्दाश्त कर रहा है? कारण स्पष्ट है। पूंजीवाद के प्रादुर्भाव के साथ ही आविर्भाव हुआ उसके जन्मजात शत्रु सर्वहारा यानी औद्योगिक मजदूर का और उसने पूंजीवाद से मुक्ति के लिए समाजवाद का सपना देखना शुरू कर दिया। अब पूंजीवाद के दो शत्रु थे– सामंतवाद और समाजवाद। इनमें सामंतवाद पतनोन्मुख था और समाजवाद विजयोन्मुख। ऐसे में पूंजीवाद ने समाजवाद से लड़ने के लिए सामन्ती पिछड़ेपन और संकीर्णताओं से समझौता कर लिया, क्योंकि उसे यह बहुत हितकारी लगा कि जनता, खास तौर से मेहनतकश, तरह–तरह की संकीर्णताओं में फंसे रह कर पिछड़ेपन से घिरे रहें और अपनी मुक्ति के लिए सृजन और संघर्ष न कर सकें।

नतीजा यह है कि आज पूंजीवाद पूरी ताकत लगाकर जनता में विघटनकारी संकीर्णताएं, भाग्यवादिता और तरह–तरह से अन्धविश्वास पैदा कर रहा है जिसके कारण आम जन अपने को असहाय महसूस करता जा रहा है। यह अकारण नहीं कि आधुनिक से आधुनिक व्यक्ति, समुदाय और देश संकीर्ण तात्कालिक हितों को पूरा करने में अपने वास्तविक और स्थायी हितों को नजरअंदाज कर रहे हैं।

अगर हम इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालें तो साफ दिखाई देगा कि आज का समाज जितना विडंबनाग्रस्त है उतना पहले कभी नहीं था। आज समाज में जितना और जितने तरह का विघटन है उतना शायद ही कभी रहा हो–और वह भी आधुनिकीकरण तथा भूमंडलीकरण के बड़े–बड़े दावों के बावजूद।

अगर हम मानव समाज पर आज एक विहंगम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि समाज की मुख्य चालक शक्ति आज पूंजीवाद है। पूंजीवाद के लिए जरूरी है 'स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व'। दुनिया की महान क्रांतियों में से एक 1789 की फ्रांसीसी क्रांति ने दुनिया को ये ही नारे दिए थे। इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रांति का आह्वान हुआ

था। तभी से दुनिया का सबसे लोकप्रिय नारा है 'इंकलाब जिन्दाबाद'। इसके बाद दुनिया में क्रांतियां होती रहीं। 1917 में रूस में और 1949 में चीन में क्रांतियां हुईं और लगा कि फ्रांसीसी क्रांति का आह्वान अब तो पूरा ही हो जाएगा। पर 'अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध' (संवाद प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में इस विषय का विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध है) यह बताता है कि इतिहास की हर क्रांति अपूर्ण रह गई है। इसका कारण यह है कि हर क्रांति में कुछ निहित हित जड़ जमा लेते हैं और वे क्रांतियों के लक्ष्यों के पूरा होने में सबसे बड़ा व्यवधान बन जाते हैं।

यहां हम यह देखें कि सभी क्रांतियां समाज की जड़ता और संकीर्णताओं को समाप्त करने के लिए होती हैं। फिर भी आज तक समाज में कुलीनता, श्रेणीबद्धता, पिछड़ापन और संकीर्णता क्यों बची हुई है–बल्कि कुछ क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है, या यह कहना बेहतर होगा कि बढ़ाई जा रही है?

सामंतवाद ने समाज में गैर–बराबरी को मजबूत किया था। गैर बराबरी को मजबूत बनाने के लिए और समाज को हर तरह से श्रेणीबद्ध कर देने के लिए सारी दुनिया और भारत में धर्म–दर्शन, साहित्य–कला, आचार–व्यवहार, मर्यादाएं–संस्थाएँ, यानी बहुविध, समाज की जकड़बंदी बढ़ती गई थी। यह स्थिति पूंजीवाद के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा थी। इसीलिए पूंजीवाद में जनवाद को महत्व दिया गया। इस जनवाद के लिए सामाजिक बराबरी इसलिए जरूरी थी ताकि सभी का इतना विकास तो हो सके कि वह शोषण की व्यवस्था में कारगर उपकरण बने रहें। इसलिए फ्रांसीसी क्रांति के प्रारंभ में सबको बराबरी का दर्जा दिया गया। यहां तक कि राजा और पोप रास्ते में आए तो उन्हें भी रास्ते से हटा दिया गया। सभी का एक संबोधन था 'नागरिक'।

पर निहित हितों का खेल जारी था। इसलिए नागरिकों और मानव के अधिकारों की घोषणा तो कर दी गई पर मताधिकार तक सबको नहीं दिया गया। दास प्रथा सिद्धांततः समाप्त कर दी गई पर मजदूर तो तरह–तरह की दासता में जकड़े ही रहे। यहां तक कि राज–परिवारों और सामंतों की कुलीनता तो समाप्त की गई पर नए कुलीन पैदा हो गए।

यहां तक कि सोवियत यूनियन ने भी, जहां सामंतवाद ही नहीं पूंजीवाद का भी अंत करने की भरपूर कोशिश हुई, 'कुलक' और 'नेपमेन' (नई आर्थिक नीति से पैदा हुए लोग) के रूप में नए सामंत और नए पूंजीपति पनपते रहे। अंततः सोवियत यूनियन

का विघटन हो गया और पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गई।

भारत में देखें तो भारत का तो सबसे बड़ा घातक रोग ही रहा है श्रेणीबद्धता और कुलीनता। ब्रिटिश राज में जब एक नया मध्य–वर्ग विकसित हुआ तो लगा कि यह वर्ग सामाजिक रोगों से लड़ने का सबसे बड़ा हथियार बनेगा और एक पूंजीवादी औपनिवेशिक सरकार इस लड़ाई में मदद करेगी। ऐसी हुआ नहीं।

इसी तरह पूंजीवाद आधुनिकता का वाहक है और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में शुरू हुआ आधुनिकीकरण धीरे–धीरे सारी दुनिया में फैलता गया है। आधुनिकीकरण का सारभूत अर्थ ही है पिछड़ेपन और संकीर्णताओं का अंत। पर यह न तो यूरोप में हुआ न कहीं और, भारत में तो खासतौर से नहीं।

दुनिया में जो भी नया विचार आता है वह तब तक के विचारों को अपर्याप्त साबित कर आगे की राह दिखाने की कोशिश करता है। वह दूसरे विचारों को पिछड़ा संकीर्ण और अपर्याप्त साबित करता है। पर धीरे–धीरे आत्मरक्षा में उसके अनुयायी उसे भी एक 'डाग्मा' बना देते हैं और नए रूप में संकीर्णता जारी रहती है और समाज का पिछड़ापन दूर नहीं हो पाता।

हम बात धर्मों की भी करें। सभी धर्म मानव मात्र को समझने का दावा करते हैं–जब सभी ईश्वर पुत्र हैं तो उनके बीच गैर–बराबरी क्या? पर वास्तविकता यह है कि सभी धर्म धीरे–धीरे अपने को ही श्रेष्ठ मानने लगते हैं। धर्म में भी पुरोहित, मुल्ला, पादरी और उनमें भी कई तरह की श्रेणियां पैदा होती जाती हैं और धीरे–धीरे वे 'एकोहम् द्वितीयोनास्ति' का रास्ता अपना लेते हैं। और फिर शुरू हो जाती है सामप्रदायिक प्रतिस्पर्धा। इस तरह यह कहवात झूठी साबित होती है कि धर्म लोगों को जोड़ते हैं। वास्तव में दुनिया का गरीबी के बाद सबसे विघटनकारी तत्व धर्म ही बना हुआ है। भारत में शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के बीच तथा बौद्धों और सनातनियों के बीच और आज तो रंग–बिरंगे गुरुओं और स्वामिओं के बीच प्रतिद्वन्द्वता घृणास्पद स्तर तक पहुंच गई है।

इसी तरह ईसाइयों के कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट नामक दो बड़े सम्प्रदाय तो हैं ही, उनमें भी सैकड़ों छोटे–बड़े सम्प्रदाय हैं। जिनके बीच कटु प्रतिस्पर्धा जारी रहती है। बीसवीं शताब्दी के दो विश्वयुद्धों के पहले दुनिया का सबसे विध्वंसक युद्ध 17वीं शताब्दी में यूरोप में कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्ट समर्थकों के बीच ही लड़ा गया था। दुनिया में साम्प्रदायिक दंगें तो होते ही रहते हैं। साम्प्रदायिक महायुद्ध का वह एक अनोखा

उदाहरण है।

इसी तरह भाईचारे के धर्म के रूप में ही जन्मे इस्लाम में भी शिया और सुन्नी दो पंथ बन गए और इनके बीच जितनी परस्पर घृणा है वह कभी कम नहीं हो पाती। इसके अलावा भी छोटे–छोटे बहुत से पंथ हैं और इस्लामी पंथों के बीच एक प्रकार का गृहयुद्ध इतना व्यापक है कि वह कभी शांत नहीं होता और ईराक, ईरान से पाकिस्तान होते हुए भारत तक लगातार जारी रहता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि धर्म संकीर्णता के सबसे घातक वाहक बने हुए हैं, इसलिए और कि धर्मों का मुख्य आधार अंधविश्वास बन गया है। वह न संकीर्णता दूर होने देता है न पिछड़ापन। बड़े–बड़े ज्ञानी और विद्वान भी अंधविश्वासी पाए जाते हैं और पिछड़ेपन के वे सबसे बड़े पोषक साबित होते हैं। कैसी विडम्बना है कि विज्ञान चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता जा रहा है फिर भी मानव समाज में अंधविश्वास की जकड़ भी लगातार बढ़ती जा रही है।

धर्म की तरह ही विचारधारा भी संकीर्णता और पिछड़ेपन से लड़ने का प्रभावी हथियार बन सकते थे। पर इतिहास बताता है कि विचारधाराए तो संकीर्णता का वाहक बनती चली गईं हैं। भारत में प्राचीन काल में ही कहा गया था 'एकोसत् विप्रां बहुधा वदन्ति'। यह एक जनतांत्रिक धारणा हो सकती थी कि सच्चाई एक ही हो और विद्वान लोग उसकी तरह–तरह से व्याख्या करें, फिर भी उनके बीच समभाव हो। पर वहीं से केवल अपने को सच मानने की संकीर्णता पैदा होती गई और वह बढ़ती ही गई है। यहां तक कि सबसे आधुनिक विचारधारा समाजवाद भी संकीर्णता से मुक्त नहीं हो पाया। मार्क्स की स्थापना के पहले काल्पनिक समाजवाद के दौर में विचारकों के बीच वैमनस्व था ही, वैज्ञानिक समाजवाद, जिसे संकीर्ण रूप से मार्क्सवाद कहा जाता रहा है, भी पंथग्रस्त होता चला गया है और आज तो उसके विघटन और संकीर्णताओं का सबसे निन्दनीय रूप भारत में दिखाई देता है। इन पंथों में विश्वास अंधविश्वास की सीमा तक पहुंच चुका है।

समाजवाद आधुनिकता का चर्मोत्कर्ष हो सकता था। वास्तव में समाजवाद में किसी तरह की संकीर्णता और पिछड़ेपन की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। पर समाजवादी खेमे में न केवल सैद्वांतिक मतभेद और तज्जनित व्यवहारिक मतभेद हैं, राग–द्वेष भी बने ही रहे है। इतिहास साक्षी है कि सोवियत यूनियन के अंतिम दो दशकों के दौरान चीन और रूस के बीच की कटु प्रतिद्वंद्वता ने समाजवाद के पक्ष को

काफी कमजोर बनाया था। सोवियत यूनियन बनने के बाद उसकी पहली पंचवर्षीय योजना के बाद लगा था कि समाजवाद प्रगति और विकास का पूंजीवाद से आगे बढ़ा हुआ मॉडल साबित होगा। पर धीरे–धीरे आर्थिक विकास में समाजवादी देश पूंजीवाद से आगे नहीं जा सके। यह सच है कि समाजवादी देशों में कुछ मामलों में जैसे स्वास्थ, शिक्षा, नारी मुक्ति आदि में सोवियत यूनियन तथा आज भी क्यूबा किसी भी पूंजीवादी देश से आगे हैं, पर कुल मिलाकर समाजवाद पिछड़ेपन और संकीर्णताओं को खत्म करने का निर्विवाद विकल्प नहीं बन पाया।

आधुनिकता को अपर्याप्त साबित करते हुए उत्तर–आधुनिकता (पोस्ट–मॉडर्निज्म) की धाराएं प्रवाहित हुई हैं। पर वे भी 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' के लिए समाज को हर तरह के पिछड़ेपन और संकीर्णता से मुक्त करने के बारे में आश्वस्त नहीं कर पा रही हैं।

साम्प्रदायिकता : यहां रुक कर हम भारत में पिछड़ेपन और संकीर्णता की सबसे घातक अभिव्यक्ति साम्प्रदायिकता पर संक्षेप में विचार कर सकते हैं। सबसे पहले हम सूत्र रूप में कुछ बातों पर गौर कर लेः

1. साम्प्रदायिकता केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शीतयुद्ध और बीच–बीच में विस्फोट नहीं है। हिन्दुओं और मुसलमानों के अंदर भी पंथों–सम्प्रदायों–जातियों आदि के बीच टकराहट चलती रहती है।
2. इस रोग के निदान के लिए 'गंगा–जमुनी संस्कृति' वाला निदान कारगर नहीं हो पा रहा है– सूफी संतों, भक्तों, कबीर, नानक, अकबर, गांधी, नेहरू और सेक्यूलरिज्म की कोशिशों के बावजूद। इसलिए इन्हें पर्याप्त न मानकर अन्य उपाय तलाशे जाने चाहिए।
3. यह केवल कानून–व्यवस्था की समस्या नहीं है। इस समस्या को बिगाड़ने में व्यवस्था का पूरा हाथ होता है पर इसका हल ढूंढने में उसकी भूमिका सीमित और केवल तात्कालिक है।
4. साम्प्रदायिकता का अलग से कोई हल नहीं है। इसका हल एक समता–मूलक, न्याय संगत, विकेंद्रित और वास्तव में जनतांत्रिक समाज में ही संभव है। और
5. मानव समाज को पिछड़ा और संकीर्ण बनाए रखने में जिन शक्तियों का निहित स्वार्थ है उन्हें शक्तिहीन किए बिना साम्प्रदायिकता के निहित हितों द्वारा इस्तेमाल की संभावना बनी रहेगी।

ऐसी स्थिति में इस समस्या का कोई तात्कालिक हल नहीं संभव है। ईमानदार

और जवाबदेह नौकरशाही और जागरूक नागरिक समाज दंगों पर तो अंकुश रख सकता है पर समाज के 'क्रॉनिक' रोगों से मुक्ति के लिए एक दूरगामी और सतत प्रयास अनिवार्य होता है।

क्या यह विचारणीय नहीं हैं कि मनुष्य की आदिम समस्या असुरक्षा का आज भी समाधान नहीं हो पा रहा है? आज दुनिया के पास सुरक्षा के विराट राक्षसी तंत्र मौजूद हैं। फिर भी आदमी आज जितना असुरक्षित है उतना इतिहास में कभी भी नहीं रहा होगा। यह असुरक्षा ही अंधविश्वास तथा सभी प्रकार की संकर्णताओं का आधारभूत कारण है। इस असुरक्षा का क्या कारण है? कारण अब तक स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाज में श्रेणीबद्धता पिछड़ापन और संकीर्णताओं का लाभ जिन्हें मिल रहा है वे ताकतें समाज में वास्तव में स्वतंत्रता, समानता और भ्रात्त्व को जीवन–धर्म नहीं बनने देना चाहतीं। तो क्या मनुष्य यह मान ले कि अब कुछ नहीं हो सकता?लेकिन आदमी ने तो हमेशा नई–नई राहें निकाली हैं।

दुनिया की हर समस्या का समाधान व्यक्ति अपने और घर–परिवार के स्तर पर ढूंढ ही सकता है। अपने और अपनों के स्तर पर तो हम समाज की एक ऐसी इकाई का निर्माण कर ही सकते हैं जहां स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व स्थापित हो और लगातार विकासमान रहे। यह तब व्यवहारिक और संभव लगने लगेगा जब हम समझ लेंगे कि पिछड़ापन और संकीर्णता आत्मघाती है और हमारी समस्त संभावनाओं को नकारती हैं।

– – –

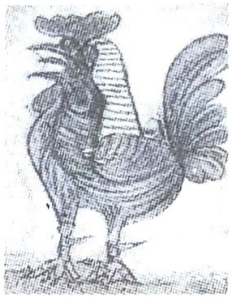

9

प्रदूषण से मुक्ति

प्रदूषण क्या है? क्यों है? कैसे उससे मुक्ति मिल सकती है?

आज सरलीकृत ढंग से प्रदूषण को पर्यावरण में असंतुलन बता दिया जाता है, और पर्यावरण भी जो हमारे बाहर है। जो असंतुलन अंदर है उसे नजर अंदाज किया जाता है। वास्तव में प्रदूषण का अर्थ है गंदगी। जिसके अपने रूप हो सकते हैं। प्राचीन काल में हर बात को तीन कसौटियों पर कसा जाता था जैसे हिंसा को–मनसा, वाचा, कर्मणा यानी हिंसा न मन में हो, न बोली में और न कर्म में, वैसे ही प्रदूषण को भी तीनों स्तर पर क्यों नहीं देख सकते? अगर लोगों के मन में, बात–व्यवहार में, असंतुलन है तो पर्यावरण तो असंतुलित होगा ही। जिस 'ग्लोबल वार्मिंग' और वनस्पति संहार को प्रदूषण के लिए जिम्मेदार ठहराया जा रहा है वह भी तो परिणाम है गलत विचारों, नीतियों और नीयतों का? नहीं? तभी तो लाख लफ्फाजी के बावजूद रोग ला इलाज लग रहा है।

सबसे पहले यह देख लें कि बहुप्रचारित प्रदूषण के प्रकार क्या हैं:

1. वायु प्रदूषण: मुख्य रूप से कार्बन मोनोक्साइड, सल्फर डायक्साइड, क्लोरो फ्लूओरो कार्बस (सीएफसी) और नाइट्रोजन ऑक्साइड जैसे रसायन जो उद्योगों और परिवहन द्वारा वायु में छोड़े जाते हैं। इनके कारण कोहरा और ओजोन पर्त में, जो हमारी सूर्य के तीखेपन से रक्षा करती है, छेद जैसी समस्याएं पैदा हो गई हैं। 1952 में लदंन में 'ग्रेडस्मोग' का ऐसा संकट पैदा हुआ था जिसमें 4000 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी।

2. प्रकाश प्रदूषण: यह ऐसा प्रदूषण है जिसमें प्रकाश की अधिकता के कारण आंखे चौंधिया जाती हैं।

3. कूड़ा–करकट: यह सबसे उजागर प्रदूषण है हो प्लास्टिक के कारण विकराल समस्या बन रहा है, खास तौर पर भारत में।

4. ध्वनि प्रदूषण: फैक्टरियों में, हवाई जहाजों, परिवहन, लाउड स्पीकरों आदि के कारण कान–फोडू प्रदूषण,

5. धरती प्रदूषण: तरह–तरह के रसायनों के रिसने के कारण धरती इतनी

प्रदूशित हो रही है कि उस पर उगने वाली वनस्पतियां स्वास्थ्य के लिए घातक होती जा रही हैं। अब तो कीटनाशक दवाएं सबसे बड़ा खतरा बन गई हैं।

6. रेडियोधर्मी प्रदूषण : परमाणु अस्त्रों के प्रयोग से ऐसा प्रदूषण जो प्रायः नियंत्रित ही नहीं किया जा सकता। तभी तो हिरोशिमा और नागासाकी में अमरीकी सरकार द्वारा गिराए गए बमों के कारण करीब सात दशक बाद भी उस क्षेत्र में बच्चे विकलांग पैदा हो रहे हैं और हाल में फूकूसीमा की दुर्घटना के बाद परमाणु ऊर्जा द्वारा बिजली उत्पादन के भी विरुद्ध विश्वव्यापी आंदोलन तेज होता जा रहा है–भारत में भी।

7. ताप प्रदूषणः मनुष्य द्वारा मुनाफे और सुख के लिए ताप का अत्यधिक इस्तेमाल। इस कारण धरती का तापक्रम असंतुलित हो गया है और ग्लेशियर पिघलने लगे हैं। समुद्रतल बढ़ रहा है जिसके कारण धरती के बहुत से तटीय निचले इलाके डूबते जा रहे हैं।

8. दृश्य प्रदूषणः बढ़ती औद्योगीकरण और नगरीकरण के कारण चारो ओर का बढ़ता बद्सूरत परिदृश्य जिसमें राजधानी दिल्ली में कूड़ों की पहाड़ियों का उल्लेख किया जा सकता है।

9. जल–प्रदूषणः घरों और उद्योगों से नदियों में उड़ेला जा रहा मलबा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है भारत की पवित्रतम नदियां गंगा और जमुना। गंगा को धर्म ने अति पवित्र और पापहारिणी घोषित कर रखा है। वह आज इतनी प्रदूषित हो गई है कि उसका पानी, जिसे मृत्यु के पहले पिला कर आत्मा के भी शुद्व यात्रा का दावा किया जाता था, आज पीने को कौन कहे छूने लायक नहीं रहा। देश की राजधानी जमुना तट पर बसी है जो एक गंदे नाले में बदल चुकी है और किसी को शर्म तक नहीं आती।

सरसरी तौर पर भी नजर डालें तो एक बात साफ हो जानी चाहिए कि ये सारी समस्याएं पिछले दो सौ वर्षों में– कुछ तो पिछले 70–80 वर्षों में, पैदा हुई हैं। ऐसा नहीं कि पहले मनुष्य प्रकृति पर अत्याचार नहीं करता था। वैसे तो पूरी मानव सभ्यता ही मानव द्वारा प्रकृति में हस्तक्षेप के द्वारा ही विकसित हुई है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि मनुष्य ने खूब जंगल काटे। भारत में अर्जुन द्वारा जंगल जला कर नया–नया नगर बसाने का वर्णन है। यह इतिहास को मिथक के रूप में पेश करने का उदाहरण है। पर यह सब उस सीमा का अतिक्रमण नहीं करता था कि प्रकृति और, मनुष्य में असंतुलन पैदा हो जाय। मनुष्य ने प्रकृति से घुलमिल कर रहना सीख लिया था। इसके उदाहरण कुछ जन–जातीय इलाकों में मिलते हैं जहां लोग प्रकृति के

भरोसे ही जीते हैं पर प्रकृति को असंतुलित नहीं करते।

पर्यावरण में असंतुलन पैदा हुआ है धरती पर रहने वालों के असंतुलित व्यवहार से। एक ही उदाहरण काफी होगा। धरती पर संयुक्त राज्य अमरीका के निवासी पाँच प्रतिशत हैं। पर वह 25 प्रतिशत कार्बन मोनोक्साइड और 30 प्रतिशत मलबा पैदा करता है और इसे सीमित तथा नियंत्रित करने के लिए तनिक भी तैयार नहीं है। उल्टे भारत जैसे देशों पर अमरीकी सरकार उंगली उठाती है।

विडम्बना यह है कि जिनके कारण सबसे अधिक प्रदूषण फैलता है वे ही प्रदूषण खत्म करने के प्रयासों को उद्योग की तरह विकसित कर रहे हैं। पहले औद्योगीकरण से कचरा पैदा हो फिर उसे 'रीसाइकिल', और 'रीयूज' करने के लिए नए उद्योग खड़े किए जाएं।

आखिर जब कुछ वैज्ञानिक कह रहे हैं कि अगर प्रकृति का इसी प्रकार दोहन होता रहा तो दुनिया का 2050 तक के नष्ट–भ्रष्ट हो जाने का खतरा है, तो इतनी उन्नत तकनोलाजी कोई उपाय क्यों नहीं दूढ़ पाती?आखिर दुनिया की सरकारें क्यों आत्मघाती हो गई हैं?आखिर इस विध्वंसकारी परिघटना के विरुद्ध कोई शक्तिशाली और प्रभावी जन आंदोलन क्यों नहीं खड़ा होता?

कैसे खड़ा हो? कैसे सरकारें अपनी नीतिया बदलें? सभी तो भस्मासुर होते नजर आ रहे हैं?पूंजीवाद ने ग्रस लिया है धरती को। करीब–करीब दुनिया की सभी सरकारें पूंजीवाद के प्रभाव में हैं। इतिहास प्रमाणित कर चुका है कि पूंजीवाद की गति विवेक नहीं विस्तार द्वारा नियंत्रित होती है। उसके रास्ते में जो आता है उसे वह रौंद कर आगे बढ़ती है। उसने सारी मानव जाति को लालची बना दिया है। लालची पहले भी होते थे। पर वे समाज में अलग से चिहिन्त होते थे और उन्हें लज्जित किया जाता था। अब लालच एक सामान्य प्रवृत्ति है और उसे गौरवान्वित किया जाता है। उस पर मुलम्मे चढ़ा दिए गए हैं और लालची को उद्यमी कहा जाता है, जो जितना लालची उतना ही बड़ा उद्यमी।

ऐसे में क्या कुछ यांत्रिक व्यवस्थाएं प्रदूषण से मुक्ति दिला सकती हैं? कदापि नहीं। इसके लिए निश्चित रूप से मन–मस्तिष्क का प्रदूषण दूर करना पड़ेगा। तब यह दिखावा अर्थव्यवस्था और राजनीति का ही प्रश्न न रहकर नैतिकता और जीवन मूल्यों का प्रश्न बन जाएगा।

इसे समझने के लिए सभी धर्मों और नीतिशास्त्रों के मर्म को समझना होगा जिनमें संग्रह, चोरी, लालच, परपीड़न को त्याज्य बताया गया है और त्याग, निर्लिप्ति और प्रकृति–प्रेम को अनुकरणीय बताया गया है। सभी प्राचीन सभ्यताएं प्रकृति से एकाकार

लगती हैं। साहित्य, संगीत नृत्य सभी में प्रकृति–प्रेम अनिवार्यतः सम्मिलित लगता है।

जब से पूंजीवाद ने पैर फैलाया तभी से मानव और प्रकृति के बीच द्वन्द्व पैदा हुआ और प्रकृति के शोषण–दोहन का क्रम शुरू हुआ। पर **थोरो, रस्किन,** तोल्सताय आदि ने, जिन्होंने गांधी जी को प्रेरित किया था, स्वानुशासन और नैतिकता पर जोर दिया था। स्वयं गांधी ने तो विज्ञान और औद्योगीकरण के अतिरेक को 'हिंद स्वराज' में नकारा था और स्वानुशासित तथा नैतिक वैकल्पिक व्यवस्था पर जोर दिया था। उसके लिए व्यक्ति और समुदाय के आचार–व्यवहार, खान–पान, परस्परता, संबंध सबको नए प्रकार से रचने का आह्वान किया था। बीसवीं सदी के विचारक **शूमाखेर** ने भी जब **'छोटा सुन्दर होता है;** (स्माल इज ब्यूटी फुल) कहा तो उनका मर्म यही था।

आज सारी दुनिया में उत्पादन, वितरण और उपभोग को बढ़ाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। प्रकृति को अनुकूल बनाने के तरह–तरह के छोटे–बड़े प्रयोग चल रहे हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि **प्रदूषण से मुक्ति पूंजीवादी व्यवस्था से मुक्ति के साथ ही संभव है** पर इस सूक्ष्म बात को भी समझ लेना कठिन नहीं कि पूंजीवाद से मुक्ति की लड़ाई व्यक्तिगत स्तर पर भी लड़ी जा सकती है और हम जैसे ही प्रदूषण से मुक्ति का व्यक्तिगत अभियान शुरू करते हैं वह पूंजीवाद से मुक्ति के अभियान का अभिन्न अंग बन जाता है।

इसीलिए हमारा जोर है कि हम अपने को गंभीरता से लें। अपने और प्रकृति को गंभीरता से लेते ही उपाय निकलते चले जाएंगे। अगर हम मान लें कि समाज और प्रकृति को तो बचाना ही है तब तो प्रदूषण से तो लड़ना ही होगा।

– – –

10
संकीर्ण राष्ट्रवाद से मुक्ति

इस मुद्दे को समझने की कुंजी है भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ही रवीन्द्र नाथ टैगोर की यह विख्यात उक्ति **राष्ट्रवाद एक बुराई, एक अशुभ है** (नेशनलिज्म इज ऐन इविल) ऐसा क्यों कहा होगा उस बेहद संवेदनशील और सृजनशील मनीषी ने?

भारत में बीसवीं सदी के चौथे दशक में उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन तेज था। देश भक्ति सबसे बड़ा जीवन मूल्य बन चुका था। जो राष्ट्रवादी नहीं था वह देशभक्त नहीं माना जाता। फिर भी उस आदमी ने, जिसकी कविता–'जन गण मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' राष्ट्रगान बनने वाली थी, राष्ट्रवाद को ही अशुभ करार दिया था। क्योंकि उसने देखा था राष्ट्रवाद का परिणाम–एक ओर उपनिवेशवाद तो दूसरी ओर फासीवाद। एक–एक कर देखें:

उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, फासीवाद और राष्ट्रवाद का ही विस्तृत रूप है। सोलहवीं सदी में सामंती जकड़बंदी ने समाज का विकास रोक दिया था। उस बंधन को तोड़ा पूंजीवाद ने, एक नई अर्थव्यवस्था के लिए। इस अर्थव्यवस्था के फूलने–फलने के लिए चाहिए थी एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें पुराने सामंती राज्य की जगह बेहतर राज्य बने जो मुक्त अर्थव्यवस्था की रक्षा करे और उसे पाले–पोसे। इस नए राज्य का आधार क्या हो? तो एक भाषा और संस्कृतिक समरसता के आधार पर नया राष्ट्र–राज्य विकसित हुआ जो सांस्कृतिक एकता और एकीकृत बृहत्तर बाजार व्यवस्था के आधार पर नवोदित पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और जनवाद के अनुकूल हो। इसलिए हकीकत यह है कि पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और जनवाद एक ही परिघटना के अलग–अलग आयाम हैं– एक–दूसरे पर निर्भर।

पूंजीवाद के विकास के लिए राष्ट्रवाद ने छोटे–छोटे राज्यों को मिलाकर एक बृहत्तर इकाई यानी बृहत्तर बाजार बनाने में पूरी मदद की। एकीकृत राष्ट्रवादी राज्यों जैसे ब्रिटेन–फ्रांस में काफी विकास हुआ। पर जल्दी ही राष्ट्रीय सीमा भी आर्थिक विस्तार के लिए छोटा पड़ने लगी। उत्पादन बढ़ता जा रहा था और उसकी बिक्री के लिए अनुकूल बाजार चाहिए था। इसीलिए सोलहवीं सदी में अमरीकी महाद्वीपों में जो औपनिवेशी करण शुरू हुआ था वह उन्नीसवीं सदी में अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और एशिया के कोने–कोने तक

पहुंच गया और दुनिया का हर कोना किसी न किसी यूरोप के राष्ट्रवादी राज्य के कब्जे में आ गया।

आइए आपको राष्ट्रवाद की दो तस्वीरें दिखाऊं:

पहली तस्वीर में है भारत माता के साथ दुनिया के तमाम मदरलैंड और फादरलैंड। भारत माता तब नहीं थी जब मनीषी ने लिखा था **'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** यानी जननी और जनभूमि स्वर्ग से भी अधिक गरिमामय है। बाद में इस कथन को भारत माता पर लागू कर दिया गया। तब जन्मभूमि का मतलब था वह क्षेत्र जिससे मनुष्य स्वाभाविक रूप से लगाव महसूस करता हो।

यह जन्मभूमि राष्ट्र बनी पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में जब राष्ट्र–राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, यानी एक नए प्रकार का अपनापन जो सांस्कृतिक रूप से एक माने जाने वाले एक क्षेत्र विषेश के एकीकृत बाजार के कारण एक इकाई बन सके, यानी एक ऐसा क्षेत्र जहां उत्पादन और वितरण पर कोई आंतरिक बंधन न हों, कोई चुंगी या दूसरा कर न हो जो उत्पाद और वितरण में यानी माल की आवाजाही में कोई रुकावट पैदा करे।

यह सामंतवााद के कारण पैदा हुई जकड़नों से मुक्ति के लिए जरूरी था। ऐसा सबसे पहले पश्चिमी यूरोप में हुआ और ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड (हालैंड) आदि देश तेजी से उन्नति करने लगे। वहां आर्थिक ही नहीं सांस्कृतिक प्रगति भी हुई। इन देशों की भाषा में साहित्य, विज्ञान और समाज विज्ञान में लगातार नई–नई बातें सोची और लिखी जाने लगीं। विज्ञान को खूब प्रोत्साहन मिला। ये देश बौद्विक अगुआई करने लगे। ब्रिटेन में **'रायल सोसायटी'** और फ्रांस में **'अकादमी फ्रांसेज'** जैसी संस्थाएं बौद्विक और वैज्ञानिक प्रगति को प्रोत्साहन देने लगीं। ब्रिटेन में एक ओर **शेक्सपियर** जैसा साहित्यकार और दूसरी ओर **न्यूटन** जैसे वैज्ञानिक पैदा हुए। उसी तरह फ्रांस में रासीन, मोलिऐर जैसे साहित्यकार तो दूसरी ओर **लवासिए** जैसे वैज्ञानिकों ने इन देशों को उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया।

उन्नति एक बहुमुखी परिघटना है। जब तक उसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र में नहीं पड़ता तब तक उसे आंशिक सफलता ही कहा जा सकता है। हम सबसे उन्नत राष्ट्रवादी देशों का ही उदाहरण ले रहे हैं तो देखें की उन्नति की इस ऊर्जा से इन देशों में असाधारण आर्थिक प्रगति हुई और दुनिया में एक नई अर्थव्यवस्था जन्मी जिसे पूंजीवाद कहते हैं। पूंजीवाद आज विवादास्पद व्यवस्था है और उसके विरुद्ध दुनिया के मेहनतकश क्रांति कर चुके हैं पर तब स्वयं पूंजीवाद एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में विकसित हुआ। उसके कारण सामंती जकड़बंदी तोड़ते हुए फ्रांस में क्रांति तक हुई।

दोनों देशों में हर क्षेत्र में विकास के साथ राजनीति में भी विकास हुआ। दोनों देशों में जनतंत्र पनपा और फ्रांस में तो क्रांति के समय इसका सूत्रीकरण कर दिया

गया–स्वतंत्रता–समानता–भ्रातृत्व। इन प्रगतियों से वैचारिक और दार्शनिक प्रगति भी हुई और **हॉब्स, लॉक, कान्ट, रूसो, मोंतेस्किउ, वोल्तेयर** आदि ने मानव विचारों को ऐसे उच्चतर स्तर पर पहुंचा दिया कि नई संस्थाएं और नए जीवन मूल्य अनिवार्य हो गए।

मनुष्य की सांसारिक उपलब्धियों के सपने साकार होने लगे–विस्तार पाने लगे। **टामस मोर** ने स्वर्ग की नहीं 'यूटोपिया' की कल्पना की, यानी इसी धरती पर एक नया जीवन्त और उपभोग्य स्वर्ग। यह सब राष्ट्रवाद का सकारात्मक पक्ष था।

अब एक दूसरा कैनवस देखिए। इसमें सबसे ऊपर है पाब्लो पिकासो द्वारा निर्मित दुनिया के प्रसिद्धतम चित्रों में से एक **'गेरनिका'**। यह चित्र 'यूनाइटेड नेशंस' में भी टंगा है, क्योंकि युद्ध की बर्बरता की इतनी मुखर अभिव्यक्ति और कहीं शायद ही हुई हो। इस कैनवस पर ही आपको दिख सकते हैं **हेमिंग्वे** के उपन्यास **'फेयरवेल टू आर्म्स'** और **बर्नर्ड शा** के नाटक **'आर्म्स ऐंड द मैन'** के कवर। ये देनों युद्ध विरोधी रचनाए हैं। अपने नाटक में शा का नायक **ब्लंटश्ली** कहता है: **'रोमैंटिक वार इज बुचरी'** यानी रूमानी युद्ध संहार है।

आधुनिक काल के अधिकांश संहार राष्ट्रवादी रूमानियत की विस्फोटक अभिव्यक्तियां हैं। जरा गौर से समझिए।

यह बहु–प्रचलित बात है कि राष्ट्रवाद मंडी में जन्मा है। यानी आधुनिक राष्ट्रवाद बाजार की आवश्यकता के कारण ही पैदा हुआ ताकि बाजार के रास्ते में छोटी राजनीतिक इकाईयां रोड़ा न बनें। इस बाजार की आवश्यकताएं अनन्त और सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती ही जाने वाली हैं। नवोदित राष्ट्र–राज्यों की प्रगति का प्याला जल्द ही भरता गया। अब ऐसे बड़े बाजारों की जरूरत थी जहां कच्चा माल सस्ते में खरीदा जा सके और बना हुआ माल मनमाने दाम पर बेचा जा सके ताकि पूंजीवाद का चक्का चलता रहे।

ऐसा बाजार तो वहीं मिल सकता था जहां राजनीतिक मालिकाना हो। इस तरह उपनिवेशों की नई धारणा विकसित हुई: ऐसा क्षेत्र जहां की अर्थव्यवस्था मालिक देश की अर्थव्यवस्था से नत्थी हो, मातहत हो। फिर तो पश्चिमी यूरोप के देशों ने उन्नीसवीं शताब्दी तक सारी दुनिया यानी उत्तरी–दक्षिणी अमरीका, एशिया, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया को आपस में बांट लिया। जाहिर है दुनिया के सबसे उन्नत देशों, ब्रिटेन और फ्रांस, का हिस्सा सबसे बड़ा था।

बाजार की लड़ाई सारी दुनिया में लड़ी जाती रही है। भारत में **क्लाइव** और **दूप्ले** के बीच की अट्ठारहवीं सदी की प्रतिद्वन्द्विता यूरोप के दो बाजार–पिपासु राष्ट्रों ब्रिटेन और फ्रांस के बीच थी जिसमें अंततः भारत ब्रिटेन की झोली में जा पड़ा था। राष्ट्रवाद ने ही फासीवाद को जन्म दिया जिसने बर्बरता और नरसंहार की सारी सीमाएं तोड़ दीं। मानव

इतिहास के दो सबसे बड़े संहारक विश्वयुद्ध राष्ट्रों के बीच टकराहट के ही परिणाम थे।

ऐसा लगता था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, ऐसे वीभत्स विध्वंस के बाद, अब कोई हिम्मत नहीं करेगा युद्ध को राष्ट्रीय नीति का उपकरण बनाने का। पर कोरिया और वियतनाम में नरसंहार जारी रहा। फिर सोवियत यूनियन के विघटन के बाद लगा कि शीतयुद्ध समाप्त हो गया। अब युद्ध पर अंकुश लग सकेगा और निरस्त्रीकरण को गंभीरतापूर्वक लिया जाएगा। पर हुआ क्या? अफगानिस्तान और ईराक पर आक्रमण हुए और संहार जारी है। बोसनिया और सोमालिया के नरसंहार राष्ट्रवाद के ही दुष्परिणाम रहे हैं।

हम भारतीय तो राष्ट्रवाद की रचनात्मक और विध्वंसात्मक दोनों अभिव्यक्तियों को नजदीक से जानते हैं।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए भारत में राष्ट्रवाद का संचार हुआ। समाज में नई स्फूर्ति आई। बहुत से बंधन टूटे। नव जागरण शुरू हुआ। भारतीय भाषाओं में नवोन्मेश हुआ। हिन्दी अपने पैरों पर खड़ी हो गई। **टैगोर, सर सैयद अमहमद, सुब्रमन्यम भारती, प्रेमचंद, जगदीश चंद्र बोस, सी.वी. रमण, मेघनाथ साहा, विवेकानंद, दयानंद,** ज्योतिबाफुले, **पंडिता रामबाई, सावित्री फुले, भीम राव अम्बेडकर, मोहन दास गांधी** और **भगत सिंह** जैसे समाज में नई जान फूंकने वाले अगुआ पैदा हुए और दुनिया का सबसे बड़ा राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा हो गया और दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र का जन्म हुआ। राष्ट्रवाद की एक यह तस्वीर है। दूसरी उतनी ही भयावह है।

राष्ट्रवाद की साम्प्रदायिक कारणों से एक दूसरी व्याख्या भी पनपी और हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रवादों ने भारतीय समाज को अभूतपूर्व रूप से विभाजित कर दिया। भारत में भयानक दंगे शुरू हुए जिनका क्रम अभी तक जारी है। भारत आजाद होता इसके पहले ही विभाजित हो गया और उस दौरान मनुष्य, मनुष्य का ऐसा शत्रु बना कि शत्रुता के मिथक छोटे पड़ गए। विस्थापन और विध्वंस के अभूतपूर्व उदाहरण सामने आए। भारत में राष्ट्रवाद ने ऐसा रूप लिया के लोग गंगा–जमुनी संस्कृति और भक्ति आंदोलन तथा सूफी संतों का जाप करते ही रह गए और भारतीय समाज विभाजित होता चला गया। **अकबर के सुलहे–कुल** और जवाहर लाल नेहरू के 'सेक्यूलरिज्म' की तूती चीखती रही और साम्प्रदायिकता के नक्कार खाने में कूक बनी डूबती–खोती रही है। आज भी भारत में करीब सत्तर वर्षों के स्वतंत्र राष्ट्र की प्रगति के बाद भी हमें राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव की दुहाई देनी पड़ती है।

पिछले पांच सौ वर्षों की ऊंच–नीच के बाद राष्ट्रवाद अपनी प्रासंगिकता खोता जा

रहा है। पूंजीवाद तो राष्ट्रवाद के कंधों पर सवार होकर ही आगे बढ़ता रहा। समाजवाद ने राष्ट्रवाद को पूंजीवादी करार देकर उससे ऊपर उठना चाहा और समाजवादी राष्ट्रवाद की अवधारणा विकसित की। पर समाजवादी देश जैसे सोवियत यूनियन और चीन भी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों से उबर नहीं पाए। जब कि हकीकत यह है कि आधुनिक काल की दोनों ही प्रमुख व्यवस्थाएं–पूंजीवाद और समाजवाद अपनी प्रकृति में ही राष्ट्रोपरि हैं। इसका मतलब यह हुआ कि इन दोनों व्यवस्थाओं का लक्ष्य भूमंडलीकरण है। पूंजीवाद ने तो शुरू ही कर दिया है। अगर समाजवादी व्यवस्था पूंजीवाद की तरह फूलती–फलती तो उसमें भी भूमंडलीकरण होता।

इस समय एक बड़ा संकट यह आया हुआ है कि पूंजीवादी भूमंडलीकरण राष्ट्रवादी हितों द्वारा संचालित हो रहा है, मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका के शासकों के हित द्वारा। इसीलिए आर्थिक भूमंडलीकरणी राजनीतिक भूमंडलीकरण के बिना लड़खड़ा रहा है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है **यूरोपियन युनियन का संकट**। दूसरे युद्ध के बाद दूसरा सबसे बड़ा प्रयोग यही साबित हुआ कि यूरोप में एक साझा बाजार (यूरोपिय कामन मार्केट) बना, जिसमें सदियों के शत्रु जर्मनी और फ्रांस साझेदारी करने लगे, वह भी सफलता पूर्वक। यह प्रयोग बहुत उत्साहवर्धक साबित हुआ और अंततः उसमें यूरोप से हमेशा किनाराकशी करने वाला ग्रेट ब्रिटेन भी शामिल हो गया। फिर अनिवार्यतः राजनैतिक सहयोग भी शुरू ही हुआ और अंततः एक राजनीतिक संघ जैसा यूरोपियन यूनियन बना जिसमें पहले के समाजवादी देश भी शामिल हो गए।

परन्तु इस संगठन में लगातार संकट आते रहते हैं, कभी यूनान तो कभी स्पेन तो कभी अन्य देशों में। आपसी मतभेद खत्म ही नहीं हो रहे। इससे यह स्पष्ट हो चला है कि राष्ट्रवाद से ऊपर उठना अभी भी कठिन है। पर इतिहास का तर्क यही इशारा कर रहा है कि अब राष्ट्रवाद का अवसान इतिहास के एजेन्डे पर है। एक ओर ऊपर से भूमंडलीकरण का दबाव और नीचे से राष्ट्र से लघुतर एथनिक इकाइयों का दबाव बढ़ता ही जा रहा है।

भारत जैसे देश में राष्ट्र निर्माण का प्रोजेक्ट पूरा नहीं हो पाया है और संकटग्रस्त रहा है। यहां तो स्वाभाविक है कि कभी धर्म तो कभी भाषा तो कभी संस्कृति के नाम पर लघुतर इकाइयां स्वायत्तता और कभी–कभी स्वतंत्रता की मांग करें। जहां पांच सौ वर्षों के दौरान राष्ट्रवाद परिपक्व हो चुका माना जाता है, जैसे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में, वहां भी स्वायत्तता की मांग कभी स्कॉटलैंड में तो कभी ब्रितानी में उठती ही रहती है।

कुल मिलाकर राष्ट्रवाद पर ऊपर और नीचे दोनों तरफ से पुनर्गठन का दबाव है। पर पुनर्गठन तो ऐतिहासिक अनिवार्यता के तहत जब होगा तब होगा। अभी तो सैद्धांतिक तौर पर यही तय करने का समय है कि समता और संस्कृति के विकास के इस दौर में, जब

विज्ञान और तकनोलॉजी ने विश्वता को वास्तव में संभव बना दिया है, मनुष्य की निजता और जन्म भूमि की धारणा स्थान, ग्राम/नगर, प्रदेश से ऊपर उठते–उठते राष्ट्र पर क्यों रुक जाय? क्योंकि राष्ट्र राज्य के रूप में सार्वभौमिकता से संपन्न है? राज्य और सार्वभौमिकता प्राकृतिक निर्मितियां नहीं हैं। सभ्यता के एक दौर में मनुष्य ने ही इन्हें अपनी सामुदायिक आवश्यकतानुसार गढ़ा था। राष्ट्र और राज्य ने अपनी भूमिकाएं पूरी कर ली हैं और मानव समाज की प्रगति के मार्ग में अब अवरोध बनी हुई हैं।

हमारी नैसर्गिक निजता तो धरती से बनती है। हमारी मां के साथ हमारी धरती–मां यानी प्रकृति मां ही जीवन की पोषक है। इसलिए राष्ट्र तक हमारा अपनापन सीमित नहीं होना चाहिए–राष्ट्रहित नहीं धरती का हित और प्रकृति का हित सर्वोपरि है। ऐसा न होने से ही मानवता तरह–तरह के संकटों से ग्रस्त है।

आज मानवता के सामने सबसे बड़ा संकट क्या है?अस्तित्व का संकट। वैज्ञानिकों का मानना है कि पर्यावरण की ऐसी ही क्षति होती रही तो धरती का अस्तित्व 2050 ई. तक बचेगा भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। अमरीकी सरकार अमरीकी हित को और भारतीय सरकार भारत के हित को सर्वोच्च मान ग्लोबल वार्मिंग को सीमित करने के लिए उचित नियंत्रण के लिए तैयार नहीं है। इससे अधिक आत्मघाती सोच और क्या हो सकती है?

वास्तव में राष्ट्रवाद ही नहीं कोई भी विचार या संस्था एकांतिक (एक्सक्लूसिव) होने पर इतनी ही खतरनाक बन जाती है। हम हमारी जाति, हमारा धर्म, हमारी संस्कृति को ही अपना मानने पर जोर देते हैं और दूसरों से दूरी बनाते हैं। सारा इतिहास इस दूरी से उत्पन्न प्रतिस्पर्धा के कारण पैदा हुए राग–द्वेष के कारण रक्तरंजित रहा है। अगर हम इतिहास पर सरसरी तौर पर भी नजर डालें तो हम देखेंगे कि युद्ध इसी 'मेरे–तेरे' के चक्कर में लड़े जाते रहे हैं।

दुनिया के सारे धर्म 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की बात करते हैं। दुनिया के सर्वोत्तम विचार मानव मात्र की एकता की बात करते हैं। फिर यह परायापन क्यों?इसे सबसे अधिक कौन सा विचार पोसता है? अपनेपन को राष्ट्र तक सीमित रखना।

इसका यह मतलब नहीं कि हम अपने राष्ट्र से प्रेम न करें। जो भी अपना है उससे प्रेम करना स्वाभाविक है। पर कोई भी अपनापन ऐसा नहीं होना चाहिए जो पराए से द्वेष और शत्रुता पैदा करता हो।

– – –

11

जाति व्यवस्था से मुक्ति

आज भारतीय समाज में निहित स्वार्थ की व्यवस्था को मजबूत बनाने में सबसे बड़ा उपकरण जाति व्यवस्था बन गई है। लगता है बिना इस रोग से मुक्त हुए समाज पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो सकता।

संक्षेप में, जाति व्यवस्था के इतिहास की रूपरेखा समझ ली जाय।

प्राचीन काल में ही, सभ्यता के विकास के साथ ही यह स्पष्ट होने लगा था कि मनुष्य–मनुष्य के बीच प्राकृतिक अंतर होता है। विविध कारणों से हर व्यक्ति में कुछ अलग–अलग कुशलताएं और कुछ कमजोरियां पैदा होती हैं। सभ्यता के विकास के साथ समाज में अलग–अलग कुशलताओं की आवश्यकता पड़ती गई। उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक कुशलता वाले व्यक्तियों का इस्तेमाल होने लगा। साथ ही निजी संपत्ति का आविर्भाव हुआ। तब स्थिति जटिल होने लगी। इससे निपटने के लिए वर्ण व्यवस्था का विकास हुआ। वर्ण व्यवस्था 'कर्मणा' थी और व्यक्ति अपने किए जाने वाले कर्म के अनुसार विविध वर्णों का माना जाता था– बौद्धिक काम करने वाला ब्राह्मण, समाज की रक्षा के दायित्व में शामिल क्षत्रिय, व्यावसायिक कार्य करने वाले वैश्य और उत्पादन तथा सामाजिक सेवा में लगे लोग शूद्र माने जाने लगे। कुछ दिनों तक हो सकता है सबका एक जैसा महत्व माना जाता रहा हो। इसके प्रमाण मिलते ही हैं कि काम बदलने से वर्णांतरण भी हो जाता था। यहां तक कि शूद्र भी ऋषित्व प्राप्त कर लेता था।

निजी संपत्ति की अपनी गति होती है। वह मुनष्य को सहज रूप में मोहाविष्ट करती है। फिर संपत्ति को लगातार बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति पैदा होती है। संपत्ति मोह और संतान मोह के मिलेजुले दुष्प्रभाव के कारण कर्मणा वर्ण व्यवस्था 'जन्मना' बनती गई और मनुष्य में पनपती श्रेणीबद्धत्ता की प्रवृत्ति वर्ण व्यवस्था पर भी लागू हो गई। वेदों का 'पुरुष सूक्त' हमें सूचना देता ही है कि स्थापित किया गया कि ब्राह्मण का जन्म निर्माता के मुंह से, क्षत्रिय का बांहों से, वैश्य का पेट से और शूद्र का पैरों से हुआ। यह वर्णों में ऊंच–नीच की ओर ही इशारा नहीं करता, यह भी बताता है कि शरीर के अंगों में भी ऊंच–नीच का प्रभाव पड़ने लगा था।

निजी संपत्ति ने एक ओर शक्तिशालियों को मालिक बनाया तो असहायों को दास। काम करने वालों में विभाजन बढता गया। इसी दौरान बौद्धिक श्रम को विशिष्टता प्रदान कर उसे श्रेष्ठ साबित कर दिया गया। शारीरिक श्रम को निम्नतर और हर तरह का उत्पादन और सेवा करने वालों को वश में रखने के लिए उन्हें निम्नतर और निर्भर बनाना

बढ़ता गया। विडम्बना यह थी कि जो लोग वास्तव में 'निर्भर' थे वे तो उच्चवर्ग के बना दिए गए और जिनके ऊपर समाज को जिलाए रखने और उत्पादन तथा समाज के पैर के रूप में उसे चलाते रहने का दायित्व था उन्हें ही निर्भर और निम्नतर न केवल बनाया गया, इस बात को उनके मानस में कूट–कूट कर भर दिया गया। धर्म, नीति, स्मृति (मनुस्मृति) ने धीरे–धीरे मेहनतकशों को निम्न ही नहीं निकृष्ठ, यहां तक कि अस्पृश्य स्थापित कर दिया गया– सिद्वांत में ही नहीं व्यवहार में भी।

छुआछूत भारतीय सभ्यता का मानक बन गया। मनुष्य का इतना बड़ा अपमान दुनिया के शायद ही किसी और सभ्यता में होता हो। श्रेणीबद्वता इतनी गहराई से प्रभावित करने लगी कि जातियों में भी उपजातियां–उच्चतर– कमतर बनती चली गईं। समाज में सारे मेहनतकश शोषित–उत्पीड़ित–अपमानित होते ही थे। नारियों की दशा भी इसी तरह बदतर होती गई।

यह शोध का विषय है कि इस मारक व्यवस्था से आदिवासी कैसे बचते रहे। इसका एक कारण यही समझ में आता है कि वे समाज से बहिष्कृत माने जाते थे और अलग–थलग रहकर अपेक्षतया अधिक प्राकृतिक जीवन बिताते थे।

जातियों, उपजातियों के जटिल जंजाल में फंसे विभाजित और विघटित समाज की सारी उपलब्धियां धूमिल पड़तीं गईं। प्राचीन काल के उपलब्ध ग्रंथों और बढ़ते पुरातात्विक खोजों से पता चलता है कि भारतीय मनीषा की उपलब्धियां असाधारण थीं। धर्म, ज्ञान–विज्ञान, दर्शन यानी जीवन के विविध क्षेत्रों में भारतीय मनीषी का चिंतन–मनन–अध्ययन मानव समाज के इतिहास में असाधारण था। पर ये सारी उपलब्धियां प्रायः लम्बवत् होती थीं। श्रेणीबद्व और विघटित समाज में उनका जन तक क्षैतिज विस्तार नहीं हो पाता था।

इस जकड़बंदी के विरुद्ध गौतम बुद्ध का प्रयास काफी हद तक मुक्तिकामी और मुक्तिदायी था। पर वह भी पूरे समाज को नहीं बदल सका। ऐसे समाज में लगातार विदेशी हमले होते रहे और नई–नई समस्याएं पैदा करते रहे। भारतीय इतिहास की यह एक बड़ी सच्चाई है कि भारत की उत्पीड़ित और अपमानित जातियों में मुख्यतः पहले इस्लाम और बाद में ईसाई धर्म और सबसे बाद में अम्बेडकर के नेतृत्व में बौद्वधर्म स्वीकार कर अपमान से मुक्ति का एक रास्ता ढूंढने का प्रयास किया।

मध्यकाल में संतों और सूफियों के प्रभाव में समरसता के प्रयास हुए थे। पर वे न तो व्यापक बने, न स्थायी।

भारत में ब्रिटिश राज कायम होने के बाद एकदम नई चुनौती आ खड़ी हुई। ब्रिटेन एक आधुनिक देश था और अपने उपनिवेशों का भी शोषण आधुनिक ढंग से ही कर सकता था। इसलिए उसने भारत में एक शोषक किन्तु आधुनिक तंत्र खड़ा किया। इसी क्रम में भारत में आधुनिक शिक्षा–व्यवस्था भी लायी गई। भारतीय लोग जीवन और जगत को नए तरह से जानने–समझने लगे।

हमें याद रखना चाहिए कि यूरोप में पुनर्जागरण का मूल उत्प्रेरक 'नई विद्या' (न्यू

लर्निंग) थी। उसी समय छापाखाने के आविष्कार ने ज्ञान को सुलभ बना दिया था। भारत में तो अंग्रेज छापाखाना लेकर ही आए थे। इसलिए भारत में नई शिक्षा नई–नई किताबों के साथ आयी। ब्रिटिश प्रोत्साहन ने शिक्षा में भेदभाव नहीं किया। भारत में पहली बार आज दलित समुदाय कहे जाने वाले लोगों को भी शिक्षा खुलेआम उपलब्ध हो गई। तमाम अपमानों के बावजूद उत्पीड़ित जातियां भी शिक्षा की ओर उन्मुख होने लगीं।

महाराष्ट्र में **ज्योतिबा फुले** ने 'गुलाम गिरी' पुस्तक लिखकर और 'सत्यशोधक' संगठन बनाकर दलितों को जागरूक बनाने का काम शुरू कर दिया। उन्होंने पहला चिराग अपने घर में ही जलाया, यानी अपनी अशिक्षित पत्नी सावित्री बाई को पढ़ाया और फिर उन्हें दूसरी लड़कियों को पढ़ाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार सावित्री आधुनिक भारत की पहली शिक्षिका बन गईं। पूणे के ब्राह्मण समाज में उन्हें अपमानित और बहिष्कृत करने की कोशिश की गई। कुछ लोगों ने तो उन पर मैला तक फेंका पर फुले दंपति बिना हतोत्साहित हुए अपनी राह पर चलता गया।

इस दिशा में सबसे संगठित प्रयास **बाबा साहब अम्बेडकर** का माना जाता है। उन्होंने बार–बार अपमानित होने के बावजूद देश–विदेश में सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की और भारत के सबसे शिक्षित जन–नेता बनने का गौरव प्राप्त किया। उन्होंने दलितों से शिक्षित और संगठित होने का आह्वान किया। उनके नेतृत्व में दलितों ने कुएं, तालाबों, मंदिरों आदि से शूद्रों के वहिष्कार का संगठित विरोध किया और उन्हें राजनैतिक रूप से भी संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी कि उनके लिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद की मुक्ति से कम महत्वपूर्ण नहीं है भारत की जाति व्यवस्था से मुक्ति। उन्होंने तो इस विषय पर अब तक का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ **'जाति का विध्वंस'** (एनीहिलेशन ऑफ कास्ट) लिखकर इस समस्या का ऐतिहासिक विश्लेषण किया और उससे मुक्ति के उपाय सुझाए।

इस दौरान **गांधी जी** ने अपने समाज सुधार के कार्यक्रम में 'हरिजन उद्धार' पर जोर देना शुरू किया था। वह शूद्रों को हरिजन कहने लगे थे। और 'हरिजन' नाम से एक अखबार भी निकालते थे। वह छुआछूत के घनघोर विरोधी थे और स्वयं भी दलित बस्तियों में रहने और दलितों को अपने आश्रम में रखने का काम शुरू कर चुके थे। पर वह वर्ण व्यवस्था में विश्वास रखते थे। वह उसमें सुधार तो चाहते थे पर कोई आमूल परिवर्तन नहीं चाहते थे। इसलिए उनके और अम्बेडकर के विरोध के बीच मूलभूत मतभेद भी था। ब्रिटिश सरकार ने जब 'शिड्यूल्ड कास्ट' को अलग से अपना प्रतिनिधि चुनने का प्रस्ताव मान लिया तो गांधी ने इसे विभाजक नीति मानकर इसके विरोध में आमरण अनशन शुरू कर दिया। भारी दबाव के कारण अम्बेडकर को गांधी से समझौता करना पड़ा। पर अम्बेडकर जाति व्यवस्था के अंत की नीति पर चलते रहे।

इस दौरान **नारायण स्वामी, साहूजी महराज** और **रामास्वामी नायकर** आदि के प्रयासों से दलितोद्धार और दलित जागरण के कार्यक्रम चलते रहे। बढ़ती जनतांत्रिक

जनचेतना के कारण बहुत से सवर्ण, यहां तक कि ब्राह्मण भी, पारंपरिक जाति व्यवस्था में परिवर्तन का पक्ष लेने लगे। देश के विभिन्न क्षेत्रों में दलित चेतना के विविध कार्यक्रम चलते रहे।

जब भारत आजाद हो रहा था और उसके लिए एक जनतांत्रिक संविधान बनाने के लिए संविधान सभा का गठन किया गया तो गांधी जी ने संविधान निर्माण का मसविदा तैयार करने के लिए अम्बेडकर का नाम सुझाया। अम्बेडकर को कानून के सिद्वांत और व्यवहार का असाधारण अनुभव और ज्ञान था। अतंतः उन्हें संविधान का मसविदा तैयार करने वाली समिति का प्रमुख बनाया गया। इस समिति के कई सदस्य प्रायः अनुपस्थित रहते और मसविदा मुख्य रूप से अम्बेडकर ने ही बनाया। संविधान सभा के बहसों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि अम्बेडकर को पग–पग पर कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिए वह पूरी तरह मनमाफिक संविधान नहीं बना सके। फिर भी उन्हें और पूरी संविधान सभा को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने 'व्यस्क मताधिकार', 'मूलभूत अधिकार' और 'अवसर की समानता' तथा मत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रा आदि का प्रावधान करके भातीय समाज की पारंपरिक जड़ता को छिन्न–भिन्न करने का प्रयास किया।

अम्बेडकर पास हुए संविधान से संतुष्ट नहीं थे और उन्होंने बार–बार कहा कि जल्दी ही इसमें संशोधन नहीं किया गया तो यह समाज की वास्तविक प्रगति के मार्ग में अवरोध बन सकता है। हिन्दू समाज की पारंपरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने के लिए जब 'हिन्दू कोड बिल' पेश हुआ और उसमें तरह–तरह के व्यवधान डाले जाने लगे तो अम्बेडकर ने सरकार से इस्तीफा दे दिया। वह बहुत पहले ही घोषणा कर चुके थे कि वह हिन्दू पैदा हुए हैं पर वह हिन्दू की तरह मरेंगे नहीं। वर्षों की ऊहापोह के बाद और दूसरे धर्मावलंबियों द्वारा उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करने के बावजूद उन्होंने अपने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्वधर्म स्वीकार कर लिया। उन्होंने सनातन बौद्व धर्म को भी नया रूप देने की कोशिश की। पर उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उनका काम अधूरा रह गया।

भारत की जाति व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी हैं कि भारत में बाहर से आए धर्म भी उसकी चपेट में आने से बच नहीं सके हैं। भारत के मुसलमान और ईसाई भी किसी न किसी रूप में विभाजक जाति व्यवस्था की गिरफ्त में रहे हैं और हैं। दुनिया की सभी सरकारें 'डिवाइड एण्ड रूल' सिद्वांत पर चलती हैं। आजाद भारत की सरकार में भी केवल हिन्दू दलितों को आरक्षण दिया गया। आरक्षण का सिद्धांत इतना राजनीति ग्रस्त होता गया कि वह जाति व्यवस्था को कमजोर करने के बजाय उसे लगातार मजबूत करता गया। परिणाम यह है कि आरक्षण चाहने वालों की एक ओर संख्या बढ़ती जा रही है दूसरे यह एक स्थायी व्यवस्था बनती जा रही है। स्वतंत्र भारत की राजनीति में शुरू से ही 'वोट बैंक' की राजनीति की प्रमुखता रही है। इसलिए विचारधारा केन्द्रित

जनतंत्र का विकास नहीं हो पाया। और आज तो कमोबेश भारत की सभी पार्टियां मानो एक ही प्रकार की हो गईं हैं। अब तो जाति प्रथा के अंत की बात तक नहीं उठाई जाती। आरक्षण ने अधिकांशतः सफल दलितों का एक अलग समुदाय बना दिया है जो एम. **एन. श्रीनिवास** नामक विख्यात समाजशास्त्री के विश्लेषण के अनुसार 'ऊपर जाने की प्रवृत्ति' (अपवर्ड मोबिलिटी) के शिकार होते हैं। भारत की तथाकथित सारी प्रगति का लाभ समाज के 'मलाईदार' स्तर के लोगों को ही मिला है। समाज के अधिकांश दलित और पिछड़े लोग आज भी पहले ही की तरह शोषित, उत्पीड़ित और अपमानित हैं।

व्यक्ति और समाज की वास्तविक प्रगति तब होती है जब उसकी निजता और परस्परता अधिक व्यापक होती जाती है। निजता और परस्परता का उदात्तीकरण न होने के कारण ये संकीर्णता ग्रस्त हो जाते हैं। निजताबोध मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। जानवरों में भी अपने और अपने जैसों के प्रति एक प्रकार का लगाव होता है। मनुष्य ने धीरे–धीरे इनका विकास किया। वह अधिकाधिक लोगों को अपना समझने के लाभ समझ गया है। वह अपने परिवार, पड़ोस, जाति, धर्म, देश को अपना समझते–समझते समस्त मनुष्य जाति को अपना समझने तक की सोच तक पहुंच गया है। पर निहित स्वार्थों के लोग इस उदात्त भाव की चर्चा भले ही करें वे अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए निजता के छोटे–छोटे दायरे बनाकर उनका इस्तेमाल करते हैं। चुनावी राजनीति ने इस प्रवृत्ति को और मजबूत कर दिया है। विडम्बना यही है कि बढ़ती आधुनिकता के साथ संकीर्णता भी बढ़ती जा रही है। जनतंत्र भी जब सभी 'जन' की रक्षा नहीं करता तो जन उन्हीं जनों को अपना समझने लगता है जो जाति–धर्म के आधार पर उसे अपने लगते हैं। राजनीति के खिलाड़ी आश्वासनों का खेल–खेलते हुए भेदों को बनाए रखते हुए अपनी रोटियां सेंकते रहते हैं।

ऐसे में लगता है कि भारतीय समाज की मारक जाति व्यवस्था का अंत संभव नहीं पर हमारा मानना है कि किसी भी तरह की संकीर्णता इंसानियत के गुणात्मक रूपांतरण के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध है। व्यक्ति तात्कालिक लाभों के लिए संकीर्ण दायरों में बंधता रहता है पर ज्यों–त्यों उसकी चेतना का विकास होता है उसे लगने लगता है कि वह तो एक विराट मानव संस्कृति का उत्तराधिकारी है। जाति, धर्म, लिंग, भाषा या कोई और छोटा दायरा उसे छोटा ही करता है। इसलिए जाति–व्यवस्था से मुक्ति फिलहाल राजनीति के एजेन्डे में नहीं है। पर देश के सांस्कृतिक एजेन्डे में एक स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के पोषक समाज का निर्माण महत्वपूर्ण है। उसके लिए जाति व्यवस्था या कोई भी विभाजक व्यवस्था समाप्त करने का प्रयास अनिवार्य है। इसीलिए हर संवदेशील और अपने को गंभीरता से लेने वाले व्यक्ति का सचेतन प्रयास होना चाहिए कि वह जाति–धर्म आदि किसी संकीर्णता से अपने और अपनों को मुक्त रखे और जाति–व्यवस्था मुक्त दायरे को बढ़ाता जाय।

– – –

12
उपभोक्तावाद से मुक्ति

व्यक्ति उपभोग करता हुआ भी हो सकता है कि उपभोक्तावादी न हो। इसी के विपरीत उपभोक्तावादी हो सकता है उपभोग कर ही न पाता हो। इसका मतलब हुआ कि हमें उपभोग और उपभोक्तवाद में अंतर करना चाहिए।

जीवन की कमतम आवश्यकताएं पूरी करते हुए भी हम उपभोग तो करते ही हैं। उपभोग का जीवन का अस्तित्व बचाए रखने के लिए आवश्यक है। ऐसे में उपभोग करने वाला कैसे और कब उपभोक्तावाद का शिकार हो जाता है?

उपभोक्तवाद का स्रोत है लालच, हवस, उन चीजों के पीछे भागना जिनकी व्यक्ति को वास्तव में आवश्यकता भी न हो। इसलिए हम उपभोक्तावाद को विलासिता से जोड़ सकते हैं। इस अर्थ में शरीर की मूलभूत आवश्यकताओं से आगे बढ़कर उत्तरोतर और अधिकाधिक सुख पाने में लिप्त होते जाते हैं तो हम उपभोक्तवादी होते जाते हैं।

आज उपभोक्तवाद एक प्रकार का रोग बनता जा रहा है, क्योंकि अब वह भी उपभोक्तवादी बनता जा रहा है जो अपनी मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी नहीं कर पा रहा है। उदाहरण के लिए गरीब आदमी स्वस्थ भोजन कर पाए या न, वह मंजन और शैंपू का इस्तेमाल करने की आदत में फंसता जा रहा है। यह एकदम आधुनिक रोग है और मुख्य रूप से पूंजीवाद के विस्तार के साथ बढ़ता जा रहा है।

इसकी पकड़ इतनी मजबूत हो गई है कि व्यक्ति कितना बड़ा उपभोक्ता है इसी से उसकी हैसियत का पता चलता है। इतिहास में मनुष्य का पहला अस्तित्व 'इंसान' के रूप में था। फिर फ्रांसीसी क्रांति के बाद उसके अधिकारों की बात करके उसे 'नागरिक' कहा जाने लगा। नागरिक का दर्जा इंसान से भी बड़ा बना दिया गया। फिर आयी बाजार की आंधी और अब तो उपभोक्ता नागरिक और इंसान से भी बड़ा बना दिया गया है। इस उलट–पुलट में इसांन बेचारा होता गया है, न केवल सामान्य इंसान, बल्कि उपभोक्ता के अंदर का भी इंसान।

पूंजीवाद में इतना सफल कौशल और किसी क्षेत्र ने नहीं दिखाया। सांइस और टेक्नॉलजी के रूप में पूंजीवाद को ब्रह्मास्त्र मिल गया। इसकी मदद से वह तरह–तरह के सूक्ष्म और कारगर हथियार बनाकर वह अपनी राह की रुकावटों को दूर करता जा रहा है। आप जानते ही होंगे कि पूंजीवाद ने सोवियत यूनियन को हथियार से नहीं

हराया। उसने धीरे–धीरे समाजवाद के संचालकों को उपभोक्तावादी बनाया। कम्यूनिस्ट पार्टी के नेताओं के लिए अलग दूकानें खुलने लगी। सोवियत नागरिक मामूली जरूरतों के लिए भी लाइन में लगने को मजबूर था और नेता आसानी से विलासिता के विदेशी माल खरीद पाते थे। क्रांति से जन्मा स्वाभिमान और सामाजिक सरोकार जर्जर होते गए और समाज विघटित होता गया।

उपभोक्तावाद का सबसे बड़ा वाहक विज्ञापन हो गया है। पारंपरिक कहावत कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' अब निरर्थक होता जा रहा है। अब तो आविष्कार कर लिया जाता है फिर तरह–तरह के प्रचार के माध्यम से व्यक्ति को बता दिया जाता है कि उसे उस आविष्कृत वस्तु की आवश्यकता है। जब यह बताने का काम दुनिया की सबसे आकर्षक और मोहक चीज नारी कर रही हो तो भला कैसे कोई टिक पाए–ब्रह्मा और विश्वामित्र जैसे देवता और ऋषि नहीं टिक पाए तो बेचारा इंसान कैसे टिक पाएंगा? विज्ञापन नारी के आकर्षक शरीर का ही सिर्फ इस्तेमाल नहीं करता वह तरह–तरह के प्रलोभन फेंकता रहता है। एक खरीदो दो ले जाओ–कभी–कभी तो तीन, बाजारों में लगातार लगी हुई सेल, किस्तों में खरीदने की सुविधा, बैंकों द्वारा उपभोक्ता सामग्री खरीदने के लिए ऋण, त्योहारों का बाजारीकरण, तरह–तरह के दिवस जिन पर उपहार लेने–देने की मजबूरी– ये सब उपभोक्तावाद के कारगर हथकंडे हैं। जहां विद्यालय और अस्पताल नहीं हैं वहां भी कोकाकोला, पाउच में तम्बाकू, पान–मसाला, शैंपू, कुरकुरे और चिप्स उपलब्ध हैं। ग्रामीण बाजार के बढ़ने का प्रतिशत तेजी से बढ़ रहा है।

उपभोक्तावाद मनुष्य को मानसिक रोगी बनाता जा रहा है। अब युवा प्रेम से अधिक मोटरसाइकिल के सपने देखने लगा है, संबंधों पर उपभोक्ता समाग्री भारी पड़ती जा रही है। उपभोक्तावाद ने धर्म, न्याय, सहित्य–कला, विज्ञान यानी सब कुछ को 'माल' बना दिया है और इसीलिए कस्बों तक में 'मॉल' खुलते जा रहे हैं। लोग मंदिर से अधिक मॉल जाने लगे हैं।

सारांशः यह कि उपभोग एक धर्म बनता जा रहा है और मॉल उसके मंदिर। इस धर्म में नियम और मर्यादाओं की नहीं चलती। शंकराचार्य ने तो आध्यत्मिक तौर पर संसार को माया कहा था उपभोक्तवाद ने भौतिक स्तर पर संसार को माया लोक बना दिया। फ्रांसीसी विचारक **गी द बोर** ने जोर देकर कहा कि दुनिया तमाशा (स्पेक्टेकल) बन गई है जिसमें लोग तमाशाई होते जा रहे हैं। यह तमाशा मनुष्य से कुछ करने और निर्णय लेने की क्षमता छीनता जा रहा है। परंपरा से कहा जाता था 'राम नाम की लूट है, लूट सके तो लूट' अब तो राम भी बाजार में खड़े हैं और कहा जा सकता है 'माल–माल की

लूट है, लूट सके तो लूट।' समाज लालची और लुटेरा होता जा रहा है। प्रकृति भी लूटी जा रही है और धरती का अस्तित्व तक खतरे में पड़ गया है।

मनुष्य संसार में भोग लिप्त न हो जाए इसके लिए प्राचीन काल में ही सभी धर्मों ने निर्लिप्ति और संयम पर बल दिया था। मिथकों में वैदेही (सीता) के पिता के विदेह होने की बात की गई थी। विदेहता का मतलब था राजा का जीवन जीते हुए भी भोग–विलास में लिप्त न होना। आधुनिकाल में भी विचारकों ने बढ़ते भोग–विलास के प्रति लोगों को सावधान किया है। बीसवीं शताब्दी में **शुमाखेर** नामक जर्मन विद्वान ने एक ऐतिहासिक किताब लिखी 'लघु सुंदर है' (स्माल इज़ ब्यूटीफुल)। उन्होंने विराट उत्पादन की जगह जीवन पद्धत्ति बदलकर लघु और सीमित उत्पादन को उपाय बताया।

कहीं दूर जाने की जरूरत ही नहीं, स्वयं हमारे गांधी जी ने सिद्धांत और व्यवहार द्वारा एक संयमित, संतुष्ट और शक्तिशाली जीवन जीने का आधार प्रस्तुत किया। उनकी दलील में संतोष और अहिंसा को चूहे के लिए नहीं बिल्ली के लिए महत्वपूर्ण बताया गया है यानी गरीब और वंचित व्यक्ति को संतोष से काम चलाने को नहीं कहा गया है। संतोष और संयम समर्थ को शक्तिशाली बनाता है।

उपभोक्तावाद से मुक्ति का प्रयास मनुष्य की जीवनशैली बदलकर, प्रतियोगिता की चूहादौड़ समाप्त कर समाज के अमानवीकरण और यंत्रीकरण पर अंकुश लगा सकता है। आज की दुनिया में संयम और संतोष असंभव लग सकता है। पर जब बात इंसानियत और जीवन को ही बचाने की हो तो असंभव को संभव करना ही पड़ेगा।

— — —

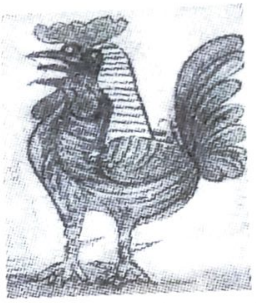

13
बोरियत/अजनबियत से मुक्ति

यह एक नाजुक मसला है—एक ओर यह वैयक्तिक प्रयास का मसला है तो दूसरी ओर व्यवस्था में रचनात्मक परिवर्तन का—यानी व्यक्ति के अपने संकल्प, प्रयास, अभिरुचि और प्रवृत्ति—प्रकृति के अनुसार इस समस्या का हल मिल सकता है। पर यदि ऐसी व्यवस्था हो जो हर व्यक्ति के समुचित विकास और जीवन यापन के लिए अवसर और अनुकूल पर्यावरण प्रदान कर सके तो हो सकता है कि व्यक्ति को बोर या/और एलिएनेट होने की स्थिति ही न पैदा हो। पर यह भी सच है कि मान लें कि ऐसी व्यवस्था कभी भविष्य में रची भी जा सके फिर भी संभव है कि कोई व्यक्ति उसमें अपने को समायोजित न कर पाए और नितांत निजी कारणों से—मनोवैज्ञानिक या जीवन—रसायन यानी 'हारमोन्स' आदि के कारण कभी—कभी बोर हो और अजनबियत का शिकार हो जाय। इसी तरह आज की व्यक्ति विरोधी शोषक—उत्पीड़क व्यवस्था मनुष्य को लगातार अकेला और जड़ करने पर आमादा है ताकि व्यक्ति अपने को जीवंत और रचनात्मक न बनाए रख सके।

मुद्दों को ठीक से समझने के लिए आइए जरा समझलें कि बोर होने का मतलब क्या है और अब क्यों और कैसे व्यक्ति अजनबियत का शिकार हो जाता है:

आदमी बोर तब होता है जब वह समझ नहीं पाता कि वह अपने समय का क्या करे, जब उसका कुछ करने का मन नहीं करता, किसी काम में मन नहीं लगता और व्यक्ति अन्यमनस्क हो जाता है। यह स्थिति हर व्यक्ति की दिनचर्या में कभी न कभी आती ही है, जब वह अवकाश के क्षणों में होता है—यानी जब वह नहीं जानता कि अपने अवकाश के क्षणों को कैसे बिताए।

बोरडम का पहले पहल इस्तेमाल डिकेंस के उपन्यास 'क्लीक हाउस' में 1852 में हुआ। मनोविज्ञान में **सी.डी. फिशर** ने परिभाषित किया: 'ऐसी मनः स्थिति को जिस में किसी चीज में मन न लगे 'डिप्रेसिव सिंपटम' भी माना गया है।' दार्शनिकों में हाइहाइडेगेर ने सबसे पहले इस पर विचार किया है। वह ट्रेन के इंतजार के समय के बोरडम को प्रातिनिधिक मानता है। **एरिक फ्राम** ने औद्योगिक काल की अजनबियत से जोड़ते हुए इसे पूंजीवादी व्यवस्था की देन माना है। **ऑस्कर वाइल्ड** के उपन्यास 'डोरियन ग्रे' में कहा गया है कि बोरडम ऐसा पाप है जिससे क्षमा संभव नहीं। बात

श्रम और अवकाश के बीच परस्पर संबंध के बृहत्तर मुद्दे से जुड़ी है।

यहीं अजनबियत को समझा जा सकता है जो मनुष्य के श्रम के क्षणों के दौरान भी पैदा होती है और पूरे जीवन की शैली और जीवन दृष्टि को विकृत कर सकती है। यह आज के समय का महारोग है। इस पर सबसे पहले मार्क्स ने ध्यान दिया था जब उसने चिन्हित किया था कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली चूंकि उत्पादक का शोषण करती है इसलिए उसको अपने काम से मन से जुड़ने नहीं देती। वह अपने काम के प्रति अजनबी (एलियनेटेड) होता है, क्योंकि वह काम उसका अपना काम नहीं होता। इसलिए उसके अंदर एक परायापन पैदा होता है जो धीरे–धीरे चूसता जाता है और वह शुष्क हो जाता है। मेहनतकश का जीवन नीरस होता जाता है जो उसके समस्त संबंधों और कार्य व्यापार को विकृत करता रहता है। इसे **मार्क्स** ने बहुत महत्वपूर्ण माना था और मनुष्य के जड़ीकरण को सभ्यता की मुख्य समस्या माना था।

यहां यह बात चिन्हित की जा सकती है कि मार्क्स द्वारा तात्कालिक रूप से महत्वपूर्ण मुद्दे, जैसे शोषण, के कारण समाज में व्याप्त वर्ग–संघर्ष और उस कारण क्रांति की संभावना पर अधिक बल दिया गया और कम्युनिस्ट पार्टियां तात्कालिकताग्रस्त होती चली गईं और हर तरह से शोषण–उत्पीड़न–अन्याय और अजनबियत मुक्त नए मनुष्यों द्वारा रचे गए नए समाज के रचने का काम पीछे छूटता गया।

इस बात को मार्क्स ने सटीक ढंग से विष्लेशित करते हुए कहा था कि मनुष्य चार तरह से एलिएनेट होता है:

1. अपने काम से, क्योंकि उसका काम एक माल पैदा करता है
2. अपने काम करने के ढंग यानी श्रम से क्योंकि वह मनचाहे ढंग से काम नहीं कर सकता।
3. स्वयं अपने से क्योंकि वह स्वयं 'कर्त्ता' नहीं एक उपकरण बन जाता है और अंततः
4. अपने सहकर्मियों से क्योंकि वह सामाजिक रह ही नहीं जाता–एक तो आत्मकेंन्द्रित होता जाता है और वह भी यंत्रवत। कुल मिलाकर उसकी मानवीयता का ही क्षरण होता जाता है। इसका भयानक रूप आज भूमंडलीकृत उपभोक्तावाद के चरमोत्कर्ष काल में दिख रहा है। लोगों का अपने–अपने अजनबी होते जाना और भीड़ में भी अकेला हो जाना, सब कुछ होते हुए भी वंचित महसूस करना आज सामान्य बात हो गई है।

मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में 'एलिएनेट' सर्वहारा ही नहीं पूंजीपति भी होता है पर वह अपनी सत्ता और मुनाफे के जोर पर इसे झेल लेता है। पर आज डेढ़ सौ साल बाद पूंजीपति भी बढ़ते मुनाफे के अमानवीकरण की लाक्षणिकता

को महसूस करने लगे हैं। यह अकारण नहीं कि पूंजीवादी स्वर्ग स्वीडन में आत्महत्या दर बहुत अधिक है।

मार्क्स के मानवीय विचार और सरोकार सौ वर्षों तक बिखरे–खोए रहे। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब स्थापित संस्थाओं, मूल्यों–मान्यताओं आदि पर प्रश्न खड़े हुए तब जाकर युवा मार्क्स के मूल सरोकारों को फिर से उजागर करने का क्रम शुरू हुआ है। सोवियत यूनियन के विघटन और चीन के पूंजीवादीकरण के बाद पूंजीवाद का एकाधिकार सा कायम हो गया है। दुनिया की मानवीय समस्याओं को कौन कहे आर्थिक–राजनीतिक समस्याएं भी बद से बदतर होती जा रही हैं। ऐसे में मानवता के भविष्य पर पुनर्विचार शुरू होना स्वाभाविक है।

अब आइए जरा इस रोग से मुक्ति के उपायों पर विचार करने के लिए एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर दृष्टि डाली जाए:

यह सच है कि बोरियत और अजनबियत महारोग बने हैं पूंजीवादी आधुनिक काल में, पर मनुष्य का मन बहलता रहे, वह अपने से, अपने पर्यावरण से और अपने घर–परिवेश–समाज से घुला मिला रहे इसके लिए प्राचीन काल से उपाय होते रहे हैं। कुछ उपाय तो प्रकृति ने उसे सिखा दिए– संगीत–नृत्य–क्रीड़ाएं आदि के रूप में। संगीत और नृत्य–सुर–ताल– थिरकन, प्रकृति में ही व्याप्त है। मनुष्य प्रकृति का ही अनुकरण करता हुआ, गाता हुआ, नाचता हुआ, जीवन यापन करता रहा, समाज को रूप देता रहा। उसमें संगीत–नृत्य को अपनी आवश्यकताओं, मनस्थितियों और बढ़ती कुशलताओं के अनुसार संग्नोया, ढाला। मनोरंजन के अन्य माध्यमों का आविष्कार किया–खेल–कूद, ताश, चौपड़, शतरंज आदि।

मन बहलाने का एक माध्यम जिज्ञासा भी थी। इसके चलते अज्ञात को जानने के क्रम में धर्म, जादू, विज्ञान आदि के भी आविष्कार होते गए और जीवन में विविधता आती गई।

पर धीरे–धीरे घर से समाज तक में 'सत्ता' का आविर्भाव हुआ और सत्ता तरह–तरह के विधि–विधान, तंत्र–मंत्र, मूल्य–मान्यताएं बनाती चली गई और समाज से सहजता और नैसर्गिकता का क्षरण होने लगा। मर्यादाएं, स्मृतियां और शास्त्र गढ़े जाने लगे और संरक्षित तथा वहिष्कृत के बीच भेद और दूरियां बढ़ने लगीं। संगीत और नृत्य जैसे आदिम और नैसर्गिक क्रियाओं में भी शास्त्रीय और लोक का भेद बढ़ने लगा। लोक–साहित्य, लोक–कला और लोक–मनोरंजन को घटिया करार दिया गया और समाज के तथाकथित भद्रलोक और शासक वर्गों द्वारा स्वीकृत रचित और व्यवहृत मनोरंजन को सजाया, संवारा और रचा जाता रहा।

बोरियत और अजनबियत मुख्यतः आधुनिकाल के रोग हैं और यह भी सच है कि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों–ज्यों दवा की।' कारण यह कि इस दौरान मनुष्य का अमानवीकरण और यंत्रीकरण बढ़ता गया है–अनिवार्यतः। इन्हें दूर करने के जो उपाय हैं–साहित्य, कला, मनोरंजन, आदि, सबका तेजी से बाजारीकरण होता जा रहा है। संस्कृति की हर अभिव्यक्ति को माल बनाया जा रहा है और संस्कृति–उद्योग, शस्त्र–अस्त्र उद्योग की बराबरी करने लगा है। शस्त्र–अस्त्र खुले युद्ध के हिंसात्मक उपकरण हैं। परंतु संस्कृति के उपकरण मनोहारी और मनोरंजक होते हैं और उनके घात को शांति और आनंदपूर्वक ग्रहण किया जाता है। इसीलिए संस्कृति शीत–युद्ध के लिए बेहद उपयोगी और प्रभावी हथियार है।

वास्तव में आज की दुनिया महा शीतयुद्ध से ग्रस्त है और इसका प्रभाव दो महायुद्धों से भी अधिक विध्वंसकारी है। दोनों विश्व युद्धों ने करोड़ों मनुष्यों और अरबों–खरबों की संपत्ति का विध्वंस किया था। उन्होंने युद्ध और हिंसा विरोधी भाव को बहुत परोसा। पर इस महा शीतयुद्ध की तो स्वीकार्यता बढ़ रही है। फिर तो जाहिर है कि इसके विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर भी बहुत मुखर और बुलंद नहीं होगा।

पर विरोध तो अनिवार्य है। क्योंकि मानवता ही खतरे में है। सारी समृद्वि और सत्ता का पशु और यंत्रवत मनुष्य कैसे उपभोग करेगा? इस समय संवेदनशील, विचारशील, विवेकशील और रचनाशील व्यक्तियों और संस्थाओं के संघर्षशील होने की सख्त जरूरत है। जरूरत है कि ऐसे लोग और संस्थाए अपने को गंभीरता से लें यानी अपने को और अपनो को समझें और समझाएं। ऐसी सांस्कृतिक मुहिम की जरूरत है जो अपसंस्कृति यानी मनुष्य की बोरियत अजनबियत बढ़ाने वाली संस्कृति का विरोध–प्रतिरोध करें और उनसे उबरने के लिए रचनात्मकता, संवदेनशीलता और विवेकशीलता बढ़ाने वाली चेतना के निर्माण और विस्तार के लिए वैकल्पिक उपकरण रचें और प्रस्तुत करें। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि आज के समय का निर्णायक मोर्चा है मनोरंजन। अगर मनुष्य विवेक और आनंद की अर्थवत्ता समझ ले, यानी मनुष्य, मनुष्य बने रहने की अर्थवत्ता को समझ ले तो बच सकता है, यानी मनुष्य को आज मनुष्यता ही बचा सकती है।

– – –

14
अज्ञान से मुक्ति

ज्ञान का मतलब है अपने को, जीवन को और जगत को जानना–समझना। वैसे तो ज्ञान की धर्म और दर्शन में अलग–अलग परिभाषाएं हैं मुझे **विनोद शाही** की व्याख्या उचित लगती है–**ज्ञान का मतलब है दुनिया के जरिए खुद का सृजन और खुद के जरिए इस दुनिया का नवनिर्माण या रूपांतरण**। इस तरह ज्ञान एक उपकरण है–सृजन का। प्रकृति ने मनुष्य को रचा है और मनुष्य ज्ञान के माध्यम से तरह–तरह के भौतिक और सांस्कृतिक सृजन करता है। सारी दुनिया में अज्ञान को अंधकार के रूप में देखा गया है। जिसे ज्ञान के प्रकाश से ही दूर किया जा सकता है बुद्ध ने 'सम्यक् ज्ञान' की बात की थी।' सनातन धर्मों में भी ज्ञान को एक मार्ग कहा गया है। इस मार्ग पर चलकर व्यक्ति अपना ही नहीं समाज का भी कल्याण कर सकता है।

धर्मों में कहा जाता है कि सृष्टि के प्रारंभ में अंधकार था फिर उसे ईश्वर ने प्रकाशित किया। वास्तविकता यह है कि मनुष्य भ्रूणावस्था में ही धीरे–धीरे चीजो को जानते–समझते हुए अंधकार मुक्त होना शुरू कर देता है। जीवन का प्रारंभ ही अज्ञान से ज्ञान की ओर और अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने से शुरू होता है। भारतीय मनीषियों के ज्ञान का सूत्र ही है: **तमसो मा ज्योतिर्गमय।**

अज्ञानी मनुष्य पूरी तरह मनुष्य नहीं बन पाता, क्योंकि वह जीवन और जगत को जान ही नहीं पाता। जान लेना भी पर्याप्त नहीं। जाने हुए को समझना जरूरी होता है। समझना भी पर्याप्त नहीं, जो समझा है उसके आधार पर सही निर्णय ले पाना जरूरी हो जाता है। इसीलिए इस पूरी प्रक्रिया के तीन स्तर कहे जा सकते हैं–सूचना–ज्ञान–विवेक। हम ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सूचनाएं ग्रहण करते हैं। उन सूचनाओं को संदर्भित और संकलित कर यानी रचा–पचा कर ज्ञान बनाते हैं। इस ज्ञान के आधार पर ही हम विभिन्न स्थितियों में विभिन्न स्तर के उचित और सही निर्णय ले पाते हैं।

आजकल 'सूचना शक्ति है' (इन्फार्मेशन इज पावर) की बात की जाती है। कुछ आगे बढ़कर 'ज्ञान शक्ति है' (नालेज इज पावर) पर अधिक जोर दिया जाने लगा है पर हमारा कहना है विवेक शक्ति है। (विजडम इज पावर)

ज्ञान तो उपकरण है। उसका कैसे इस्तेमाल हो यह विवेक ही सही ढंग से कर

सकता है। जरा देखिए ज्ञान के भरोसे मनुष्यता अपनी उपलब्धियां खोती जा रही है, सब कुछ होते हुए भी कितनी वंचित है। विवेक के अभाव में मनुष्य ज्ञान–विज्ञान–समृद्धि–शक्ति का उचित इस्तेमाल नहीं कर पा रहा है इसी अर्थ में ज्ञान–अज्ञान को दूर करने में असमर्थ दिखाई दे रहा है।

अज्ञान से मुक्ति की सबसे प्रशस्त राह शिक्षा है। शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य अज्ञान और अंधविश्वास से लड़ता रहा है। पर समाज में बढ़ती श्रेणीबद्धत्ता के कारण बहुमत को शिक्षा से दूर रखा गया जैसे– भारत में नारियां और मेहनतकश। जिनको शिक्षा मिलती भी थी वह सूचना और ज्ञान तक सीमित रखी जाती थी। आधुनिक काल में तो शिक्षा को ज्ञान के विभ्रम में बदल दिया गया है। **फ्रेरे** और **इलिच** जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने आधुनिक शिक्षा को निरर्थक बताया है। अब तो कुछ शिक्षाशास्त्री **स्कूलों को 'मूढ़' बनाने का कारखाना कहने लगे हैं।** व्यवहार में भी हम देखते हैं कि अधिकांश शिक्षित व्यक्ति भी वास्तव में अशिक्षित रह जाते हैं।

आज के जीवन में विशेषज्ञता का बहुत महत्व है। विशेषज्ञ को ही कुशल और सफल माना जाता है। इसीलिए शिक्षा को विशेषज्ञता के जाल में जकड़ दिया गया है। होता यह है कि विशेषज्ञ अपने विषय का ज्ञानी और अन्य क्षेत्रों में अज्ञानी रह जाता है। ऐसे ज्ञानी विशेषज्ञ का अपने विषय में ज्ञान भी पंगु रह जाता है।

ज्ञान का सही से अधिक गलत इस्तेमाल होता रहा है। सभ्यता के प्रारंभिक काल में जानने समझने वालों ने अपने को दूसरों से 'श्रेष्ठ' के रूप में स्थापित किया और समाज धीरे–धीरे ज्ञानी और अज्ञानी में श्रेणीबद्ध होता गया। ज्ञानियों ने अज्ञानियों का भरपूर इस्तेमाल किया और करते जा रहे हैं। जब अज्ञानियों ने अज्ञान से मुक्त होना शुरू किया तो उन्हें तरह–तरह के भ्रमों और प्रलोभनों में फंसाया जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि आज शिक्षित और ज्ञानी भी मनुष्य जीवन की अर्थवत्ता नहीं समझ पाते, और यह तो बिलकुल नहीं जान–समझ पाते कि दीपक स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाश देता है। ज्ञान का मुख्य लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है।

हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि आज की दुनिया में अज्ञानी होना और दूसरों को अज्ञानी बनाए रखना यानी केवल अपने ज्ञान से संतुष्ट हो जाना अक्षम्य है। अज्ञान से मुक्ति ही मुक्ति के समस्त आयाम प्रकाशित कर सकती है।

– – –

15
मृत्यु से मुक्ति

मृत्यु से मुक्ति? क्या यह संभव है? अब तक तो ऐसा हो नहीं पाया है, परन्तु दूसरी ओर मृत्यु से मुक्ति की आकांक्षा ने ही मनुष्य से सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर असाधारण कार्य करवाए हैं।

सभ्यता के प्रारंभ में ही मनुष्य ने यह महसूस कर लिया था कि हर कठिनाई और हर समस्या के रू–ब–रू वह कुछ न कुछ कर लेता था। पर मृत्यु के सामने वह एकदम असहाय था। फिर भी उसने 'अमृत' की कल्पना की–वास्तविक नहीं तो काल्पनिक ही सही उपाय किए। समुद्र मंथन का मिथक गढ़ा गया तो उसमें से निकलने वाली सबसे महत्वपूर्ण चीज अमृतकलश ही था। जिसके लिए देवताओं और असुरों के बीच संग्रम भी हो गया। उसी कलश से जहां–जहां अमृत की बूंदे छलकीं वहां वहाँ कुंभ मेलों का आयोजन होने लगा। आज भी इलाहाबाद में हर बारह साल पर लगने वाले कुंभ मेले में अमरता की तलाश में करोड़ों लोग संगम के गंदा कर दिए गए पानी में भी डुबकी लगाते ही हैं।

इसी तरह भारतीय मिथकों में किसी व्यक्ति से खुश होने पर देवताओं द्वारा वरदान की कल्पना है। वरदानों में भी सबसे वांछित वरदान अमरता को ही माना जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य ने अपने जीवन को बनाए रखने के लिए उर्वर से उर्वर कल्पना का उपयोग किया है।

पुनर्जन्म की कल्पना भी इसी अमरता को प्राप्त करने का एक उपाय लगता है। मनुष्य ने देखा कि शरीर तो नश्वर है। तब उसने कल्पना की कि इसमें वास करने वाली आत्मा अनश्वर है। अजर–अमर आत्मा, परमात्मा का ही अंश है। और गीता में कहा गया 'आदमी जैसे पुराने वस्त्र त्याग कर नए वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर का त्याग कर नए शरीर में प्रवेश कर जाती है'।

इस तरह आत्मा के माध्यम से मनुष्य अपनी भी अमरता का आस्वादन करने का प्रयास करता रहा है।

यह तो हुई कल्पना की उर्वरता की बात। वास्तव में भी मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रारंभिक काल में ही औषधियों का आविष्कार करना शुरू कर दिया था और बाद में तो उसे आयुर्विज्ञान का नाम दे दिया गया। इसमें शरीर की व्याधियों का उपचार करने के साथ–साथ चिरायु होने की संभावना पर भी विचार होता रहा। हमेशा ही ऐसी चमत्कारी

जड़ी–बूटियों की बात की जाती रही है, जिनके माध्यम से मृत्यु पर विजय पाने की बात की जाती है। रामायण में लक्ष्मण के मरने पर **शुषेण वैद्य** द्वारा हिमालय से संजीवनी बूटी ले आने का और हनुमान द्वारा उसे न ढूंढ़ पाने पर पहाड़ सहित उठा लाने और फिर वैद्य द्वारा संजीवनी बूटी दिए जाने पर लक्ष्मण के जीवित हो जाने की कथा को आज भी बहुत से लोग सत्य–कथा मानते हैं। यह कथा तो आज भी प्रचलित है कि च्वयन ऋषि ने आँवले का इस्तेमाल कर पुनर्जीवन प्राप्त कर लिया था। इस कथा को वैज्ञानिक शोधों ने इतना कुछ तो कर ही दिया है कि ऑवला एक लोकप्रिय औषधि–फल बन गया है।

दुनियाभर के आदिवासियों में मृत्यु–विजय की लोक कथाएं प्रचलित हैं। यूनान के मिथकों में दो आदिम खोजों की चर्चा है: 1. पारस पत्थर–जो किसी धातु को सोना बना दे। , 2. 'अलिक्सिर' यानी अमृत की खोज।

विज्ञान का युग शुरू हुआ तो मनुष्य ने जान लिया कि मानव शरीर अगणित कोशिकाओं से मिलकर बना है जो स्वतः लगातार अपना नवीकरण करती रहती हैं। इस प्रक्रिया को समझ लेने के बाद उसने जीवन रसायन पर भी शोध जारी रखा। और यह जान लिया कि मानव शरीर मुख्य रूप से किन रसायनों से बनता है। उसने उन रसायनों को प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से पैदा करना शुरू कर दिया। फिर उसने शरीर के अंगों को प्रत्यारोपण की प्रक्रिया सीख ली। अब वह मनुष्य के कुछ अंगों की कोशिकाओं को इस तरह विकसित करने में सफल हो गया है कि वे उस अंग जैसा ही बन जाएं, जिसकी वे कोशिकाएं हैं। अब तो वह 'क्लोनिंग' भी करने लगा है यानी कृत्रिम रूप से जीवों का उत्पादन कर लेता है।

कुल मिलाकर मनुष्य शरीर और जीवन के रहस्यों का उद्‌घाटन करता हुआ 'टेस्ट ट्यूब बेबी' तक तो पहुंच ही गया है। अमरता की खोज में मनुष्य 'जीवन' की रचना करने में जब समर्थ हो गया है तो सैद्धांतिक रूप से तो मृत्यु पर विजय की ओर बढ़ता ही जा रहा है।

व्यवहार में तो मनुष्य मृत्यु से मुक्ति के निकट अब पहुंचना चाह रहा है पर सिद्धांततः तो उसने साहित्य–कला–दर्शन आदि में यह विजय बहुत पहले ही हासिल कर ली थी।

विख्यात अरब कवि **खलील जिब्रान** ने बीसवीं सदी में कहा था: **'हम अपने माता–पिता की संतानें नहीं 'जीवन की संतानें हैं' जो अपने को शास्वत जिलाए रखता है।'** इसका मतलब यह हुआ कि जीवन कभी नहीं मरता, मरता तो बस शरीर है।

विज्ञान ने भी यह साबित कर दिया है कि जीवन का आधार भौतिक दुनिया में बस या तो पदार्थ हैं या ऊर्जा और दोनों एक–दूसरे में रूपांतरित हो सकते हैं। ऐसे में जो मृत्यु कहलाती है वह पदार्थों का रूपांतरण मात्र है।

एक दूसरे स्तर पर देखें। मनुष्य एक रूप में व्यक्ति होता है तो दूसरे में समाज। वैयक्तिकता और सामाजिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसे में व्यक्ति का शरीर ही

मरता है। समाज के रूप में तो कभी मरता ही नहीं। इस बात को मनुष्य विविध रूपों में चरितार्थ भी करता रहा है। मेरी नजरों में इसका सबसे मूर्त रूप इतिहास की अवधारणा में दिखाई पड़ता है। इतिहास भले ही अतीत का अध्ययन करता हो पर उसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की अखंडता होती है, क्योंकि इतिहास, इतिहास निर्माण का माध्यम है यानी मनुष्य अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझता और भविष्य को संवारने की योजनाएं बनाता है। दूसरी ओर इतिहास समाज का होता है। यानी व्यक्ति के सामाजिक रूप का। इस तरह व्यक्ति इतिहास के माध्यम से काल और अपने आणविक अस्तित्व को पार कर जाता है। यानी इतिहास में दर्ज होकर अमर हो जाता है।

यह प्रयास मनुष्य ने आदिम काल में ही शुरू कर दिया था। सभी सभ्यताओं में किसी न किसी रूप में पितरों की स्मृति और पूजा का प्रावधान है। मनुष्य ने यह कल्पना कर ली थी कि पूर्वज उसका कल्याण करते हैं। यानी उनका एक भविष्य भी होता है। इस तरह हर अतीत का भी एक भविष्य है।

मृत्यु से मुक्ति का एक पक्ष नैतिकता से भी संबंधित है। वह मनुष्य को धार्मिक अर्थों में सद्कर्म और सांसारिक अर्थों में सामाजिकता के लिए प्रेरित करता रहा है। इसी अर्थ में मनुष्य स्थूल रूप से अमर न भी हो पाए तो सूक्ष्म और सैद्धांतिक रूप से तो अपने 'पुण्य', 'सद्कर्म' तथा 'सार्थक जीवन' द्वारा अमरता प्राप्त ही कर लेता है। अंततः यह तो कहा ही जा सकता है कि मृत्यु से मुक्ति मनुष्य के लिए सैद्धांतिक और व्यवहारिक स्तर पर एक बहुत बड़े उत्प्रेरक का काम करती ही रही है। लगता है शीर्घ ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा लेगा। पर उस विजय का करेगा क्या?

मनुष्य को जितना जीवन प्राप्त है उसका ही वह कितना सदुपयोग कर पाता है? अधिकांश लोग तो जीवन का अर्थ ही नहीं समझते–बस जीवन प्रवाह में बहते चले जाते हैं। सुधी और गुणीजन भी प्रायः अपने और अपनों में लिप्त रहकर जीवन को सार्थक नहीं कर पाते। दुनिया के ज्ञानी–विज्ञानी, धनशाली–बलशाली लोग मिलकर जीवन और जगत का अस्तित्व तक मिटाने पर आमादा हैं। उनके स्वार्थ और संकीर्णता के कारण मनुष्य मानव जाति की अपार उपलब्धियों का सदुपयोग नहीं कर पा रहा है। ऐसे में मृत्यु से मुक्ति मिल भी गई तो वह उन्हें ही मिलेगी जो सशक्त लोग हैं। किसी भी मुक्ति की तरह यह सामान्य जन को उपलब्ध नहीं होगी। तो क्या मृत्यु से मुक्ति की धारणा सामान्य जन के हित में नहीं है? निश्चित ही है, क्योंकि सशक्त लोग मृत्यु से महंगी मुक्ति खरीद भी लें तो वह जीकर जीवन को कलुषित ही करेंगे। पर सामान्य जन अगर जीवन को गंभीरता से ले और जीने की तमीज और जीने का आनंद समझ जाए तो मृत्यु उसके जीवन का अंत नहीं कर सकती।

— — —

16

अंत में मुक्ति से मुक्ति

यह क्या बात हुई– मुक्ति से मुक्ति? हुई न! यही तो साबित करेगी कि मुक्ति एक साधन भी है और साध्य भी, मुक्ति एक आदर्श है, एक व्यवहार भी, एक मंजिल भी है और एक राह भी।

जब तक हम मुक्ति को एक साध्य मानते हैं तब तक वह हमारे बाहर की उपथिति है जो हमें इसलिए चाहिए क्योंकि हमारा उसके बिना कुछ न कुछ नुक्सान हो रहा है। उसे प्राप्त करना हमारी बेहतरी के लिए आवश्यक लगता है। मुक्ति ऐसी चेतना से उपजती है जो व्यक्ति/समुदाय की अपूर्णता को चिन्हित कर उसे उच्चतर की ओर जाने को प्रेरित करती है। पर यह चेतना मुक्ति के लिए कैसी स्थितियां–परिस्थितियां, वृतियां–प्रवृतियां–मनोवृत्तियां चाहिए यह भी बताती रहती है। धीरे–धीरे यह चिन्हित होता जाता है कि मुक्ति की चरितार्थता के लिए कैसी वाह्य परिस्थितियां और आन्तरिक विकास जरूरी है। तब यह लगने लगता है कि मुक्ति अविभाज्य है– जब तक कोई भी कहीं भी, कैसे भी, मुक्त नहीं है तब तक मुक्तों की भी मुक्ति कहीं न कहीं बाधित है।

आदर्श स्थिति में– सिद्धांततः तो यह कहा ही जा सकता है कि कभी न कभी यह अविभाज्य मुक्ति चरितार्थ हो सकती है। तब? तब तो मुक्ति साध्य नहीं रहेगी। फिर वह साधन हो जाएगी– हो सकता है किसी उच्चतर साध्य का? वह क्या हो सकता है? वह आनंद भी तो हो सकता है। नहीं?

वह कैसा संसार होगा जब मुक्ति नैसर्गिक व्यवहार बन चुकी होगी, तभी सभी बंधन मुक्त होंगे, तभी रूसो का कथन चरितार्थ होगा– 'l'homme est ne libre, (man is born free) मनुष्य जन्मना मुक्त है यानी मुक्ति मनुष्य का स्वभाव है।

– – –

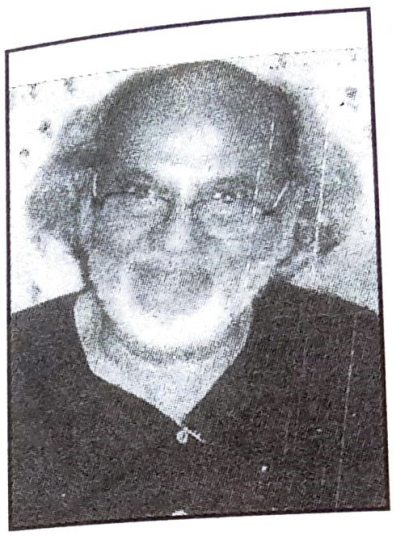

लाल बहादुर वर्मा
(जन्मः जनवरी 1938)

कई विश्वविद्यालयों में पढ़ने-पढ़ाने के बाद अपने को गंभीरता से लेना शुरू किया तो जीने की तमीज आती जा रही है। आजकल संस्कृतिक मुहिम में शामिल और क्या-क्यों-कैसे (जिज्ञासा) सीरीज की पुस्तिकाओं के प्रकाशन और वितरण में व्यस्त।

सम्पर्क : बी-239, चन्द्रशेखर आजाद नगर,
इलाहाबाद - 211004
मोबाइल : 09454069645

ई मेल : muhimverma@gmail.com

कुछ किताबें : इतिहास क्यों-क्या-कैसें, ऐंग्लो इंडियंस, अंडरस्टैंडिंग हिस्ट्री, यूरोप का इतिहास, विश्व का इतिहास, कांग्रेस के सौ साल, अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध, आइए अपने को गंभीरता से लें, आदि

अंग्रेजी से अनुवाद होवर्ड फास्ट के उपन्यासों- अमेरिकन, सिटिजन टॉम पैन, अनवैंक्विश्ड, ऐप्रिल मार्न का और क्रिस हरमन के पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड, एरिक हॉब्सबाम के एज आफ रिवोल्यूशंस तथा आर्थर मर्विक के नेचर ऑफ हिस्ट्री का, फासिज्म, थियरी एण्ड प्रैक्टिस तथा लिटिल प्रिंस का फ्रेंच से अनुवाद आदि...

बहुत सी पुस्तिकाओं पर काम जारी

उपन्यास : उत्तर पूर्व, मई 68 पेरिस प्रकाशित, जिन्दगी ने एक दिन कहा प्रकाश्य
(आत्मकथा प्रकाश्य)

क्या क्यों कैसे जिज्ञासा

कुछ लोग तो हमेशा से ही जिज्ञासु और जानकार-समझदार होते रहे हैं. आधुनिक काल में उनकी संख्या बढ़ती गई है पर आज भी अधिकांश लोग न जानकार होते है न समझदार. भारतवर्ष में तो शिक्षित लोगों के पास भी अधिकांशतः औरों की अपेक्षा सूचनाएं ही अधिक होती हैं. यह तो हम जानते ही होंगे कि सूचना-ज्ञान-विवेक के क्रम में सूचना सबसे निचले स्तर की बौद्धिक गतिविधि है और केवल सूचना के आधार पर सृजनात्मक और निर्णायक काम नहीं किया जा सकता. उसके लिए ज़रूरी होता है विश्लेषण-संश्लेषण, अध्ययन-चिंतन-मनन के आधार पर निर्मित ज्ञान जिसका इस्तेमाल सृजन और विवेक के लिए हो तभी व्यक्ति और समाज आगे बढ़ते हैं.

जरा इतिहास में झांकिए. यह सारा काम समाज में थोड़े से लोग करते रहे हैं. भारत में नारियां और दलित तो इससे वंचित ही कर दिए गए थे. सवर्ण पुरुषों में भी सभी को अवसर नहीं मिल पाता था. ऐसी व्यवस्था में भी दुनिया ने पिछले तीन हज़ार वर्षों में, विशेषकर पिछले दो सौ वर्षों में, जब से प्रगति में लोगों की भागीदारी बढ़ती गई है, अभूतपूर्व उन्नति की है. कल्पना करने पर रोमांच हो आता है कि अगर समाज के अधिकांश लोग अध्ययन-चिंतन-मनन-प्रयोग-निर्माण में लग जाएं तो क्या-क्या हो सकता है.

यह भागीदारी और चेतनशीलता बढ़ाने के लिए विकसित देशों में लोकरंजन के लिए बहुत तरह का सृजनात्मक साहित्य उपलब्ध है. हमारे देश में ऐसे प्रयास कम ही हुए हैं. हम सांस्कृतिक मुहिम पुस्तिकाओं के जरिए दुनिया भर के ज्ञान-विज्ञान-विचार आदि पर सरल व सस्ती पुस्तिकाएं हिंदी पाठकों को उपलब्ध कराने जा रहे हैं. यह पुस्तिका इसी श्रृंखला की एक कड़ी है. आपकी दो टूक प्रतिक्रिया और सहयोग के बिना यह काम आगे नहीं बढ़सकता. यह तो आपका भी काम हो सकता है.